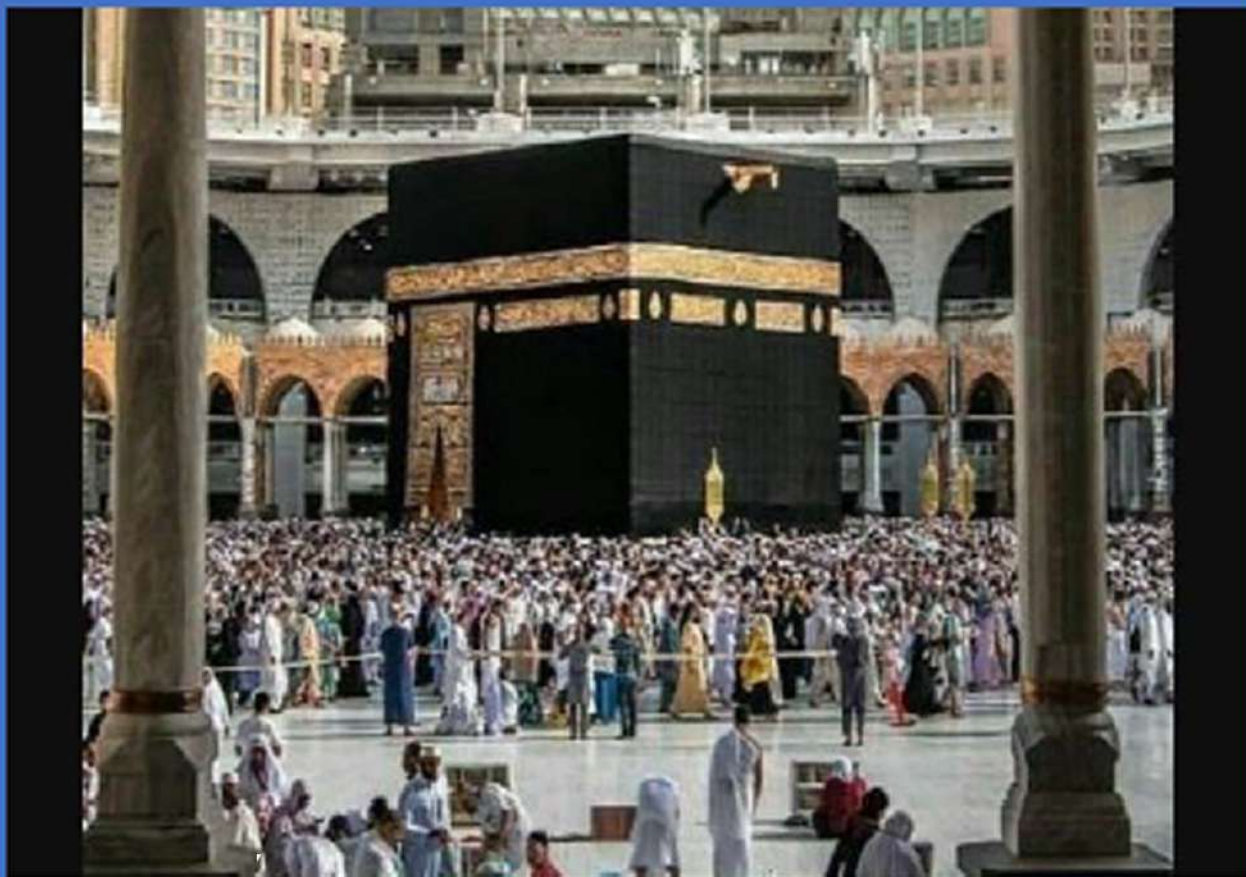


‘एहल-ए-किबला’

की

तकफ़ीर का खंडन

A REFUTATION OF DECLARING
A MUSLIM AS A ‘KAFIR’



رد تکفیر اہل مشبہ

मौलाना मुहम्मद अली लाहौरी

بِسْمِ اللّٰهِ الرَّحْمٰنِ الرَّحِیْمِ

प्रवेशिका

यों तो किसी भी दौर में उलेमा यानि मुस्लिम विद्वानों की कमी नहीं होती। लेकिन इसके बावजूद एक सही हदीस में अल्लाह तआला का यह वादा है कि वो हर सौ साल के बाद 'उम्मत मुस्लिमा' (मुस्लिम समुदाय) के बीच एक मुजद्दिद (धर्मसुधारक) भेजेगा। जिसका काम धर्म में उत्पन्न समकालीन दोषों और विकारों को दूर करना, समय के नए मसलों को हल करना और समय की नवीन धार्मिक ज़रूरतों को कुरआन और हदीस की रोशनी में पूरा करना है। हदीस के असल शब्द ये हैं :

ان الله يبعث لهذه الامّة على راس كل ما تة سنة من يجدد لها دينها. (ابودأود).

यानि अल्लाह तआला इस उम्मत (मुस्लिम समुदाय) के लिये हर सदी के सिर पर एक व्यक्ति-विशेष को नियुक्त करेगा जो उसके दीन की तजदीद करेगा यानि उसके धर्म को ताज़ा करेगा।

अल्लाह का यह वादा गत तैरह सदियों में बराबर पूरा होता आया है। इतिहास गवाह है कि हिजरी संवत् की हर सदी में किसी न किसी महापुरुष का यह दावा ज़रूर मौजूद है कि अल्लाह ने उसे अमुक सदी का मुजद्दिद (धर्मसुधारक) नियुक्त करके भेजा है। कभी कभी एक सदी में एक से ज़्यादा मुजद्दिद भी आये हैं। हज़रत शैख़ अहमद सरहिन्दी तो मुजद्दिद अलिफ़ सानी (ग्यारहवीं सदी के मुजद्दिद) के नाम से ही जाने जाते हैं। मौलाना नवाब

सिद्दीक हसन खां साहिब भोपाली (देहांत 1307 हि.) की मशहूर किताब 'हिज्जल किरामह' में गत तेरह सदियों के मुजद्दियों की लिस्ट मौजूद है :

पहली सदी (हिजरी) : हज़रत उमर बिन अबदुल अजीज़,

दूसरी सदी : हज़रत इमाम शाअफ़ी और अहमद बिन हबल,

तीसरी सदी : हज़रत अबू शरह और अबू अल-हसन अशअरी,

चौथी सदी : हज़रत अबू उबैदुल्लाह नीशापूरी, और काज़ी अबू बक्र बाकिलानी,

पांचवीं सदी : हज़रत इमाम गज़ाली,

छठी सदी : हज़रत सैयद अबदूल कादिर जीलानी,

सातवीं सदी : हज़रत इमाम इबन तैमियह और हज़रत ख़वाजह मुऐयुद्दीन चशती,

आठवीं सदी : हज़रत इबन हज़र असकलानी और हज़रत सालिह बिन उमर,

नवीं सदी : हज़रत सैयद मुहम्मद जोनपूरी,

दसवीं सदी : हज़रत इमाम सयूती,

ग्यारहवीं सदी : हज़रत मुजद्दिद अलफ़ सानी सरहिन्दी,

बारहवीं सदी : हज़रत शाह वली उल्लाह देहलवी,

तेरहवीं सदी : हज़रत सैयद अहमद बरेलवी

(अल्लाह की अपार दयालुता और शांति

इन सब पर वर्णित हो!)

(देखो 'हिज्जल किरामह' पृष्ठ 135-139)

और चौदहवीं सदी हिजरी के बारे में लिखा है कि सारे अन्दाज़ों और अनुमानों के मताबिक़ चौदहवीं सदी में हज़रत ईसा और इमाम महदी का आगमन होना चाहिये, अगर ऐसा हुआ तो वही मुजद्दिद होंगे (देखो पृष्ठ 139)। कारण यह बताया कि हज़रत ईसा और इमाम महदी के आगमन संबंधी जितनी भी भविष्यवाणियां और निशानियां क़रआन और हदीस में वर्णित हैं वो लगभग सारी की सारी प्रकट और पूरी हो चुकी हैं।

इन में सब से प्रमुख और प्रत्यक्ष यह भविष्यवाणी है, हज़रत पैग़म्बरश्री^{सल्ल} ने फ़रमाया है :

يوشك ان ياتي على الناس زمان لا يبقى من الاسلام الا اسمه ولا يبقى من القرآن
الارسمه مساجدهم عامره وهي خراب من الهدى علماءهم شر من تحت اديم
السماء من عندهم تخرج الفتنة وفيهم تعود.(مشكوة. كتاب العلم)

“निस्संदेह मेरी उम्मत (मुस्लिम समुदाय) पर एक ऐसा समय आये गा जब इस्लाम का सिर्फ़ नाम रह जाये गा, और कुर्आन (का पाठ) सिर्फ़ रसम तक सीमित हो जाए गा। मस्जिदें संख्या में तो बहुत होंगी, नमाज़ियों से भी खचा खच भरी होंगी, लेकिन हिदायत (मार्गदर्शन) का साधन न होंगी। उलेमा (मुस्लिम विद्वान) आकाश तले सब से बुरे जीव होंगे, उन्हीं से फ़ितना फूटे गा और उन्ही में वापस लौट जाए गा।”

(‘मिशकात’, ‘किताबुल्-अिलम’)

सभी मुस्लिम विद्वान इस बात पर एकमत हैं कि यह हदीस हमारे ही ज़माना से मुतल्लिक है। स्थानाभाव के कारण हम यहां सिर्फ़ मौलाना सदीक़ हसन ख़ान भोपाली की राय पेश करेंगे :

“अब इस्लाम का सिर्फ़ नाम और कुर्आन का सिर्फ़ नकश (अ. रसम) रह गया है। मस्जिदें प्रत्यक्षतः आबाद हैं लेकिन हिदायत के मामले में बिल्कुल वीरान हैं। इस उम्मत के उलेमा (विद्वान) उन सब जीवों से बदतर हैं जो आकाश के तले हैं, इन्हीं से फ़ितने निकलते हैं, इन्हीं में वापस लौट जाते हैं।”

(‘इक़तिराबुस् साअह’, पृष्ठ 12)

जब तेरहवीं सदी हिजरी का अंत और चौदवीं सदी का आरंभ हुआ तो देखते ही देखते मुसलानों से उनकी राज्य-सत्ता छिन गई। ज़माने ने भी नई करवट ली, पुरानी ज्ञान-पद्धति बिल्कुल बदल गई, इसका स्थान नवीन ज्ञान-विज्ञान ने लेलिया, जिस में अंधविश्वासों और रूढ़ियों के लिये कोई जगह न रही। जगह जगह धर्म

और धार्मिक विषयों को मुद्दा बना उन पर हमले होने लगे। धर्मों में चूंकि सब से मज़बूत पकड़ इस्लाम की थी, इस लिये सब का रूख इस्लाम की ओर मुड़ गया। कोई भी धर्म ऐसा न था जिसने अपनी आलोचना का लक्ष्य इस्लाम को न बनाया। कहते हैं कि जंग में हमेशा पलड़ा उसी पक्ष का भारी होता है जो हमले में पहल करे। मुसलमानों ने कभी सौचा भी न था कि जिन लोगों पर वो सदियों राज करते रहे हैं वही एकजुट हो कर उनकी ख़िलाफ़त में एतराजों और आपत्तियों की भाढ़ ले आयेंगे। अन्य धर्म-प्रचारकों की तुलना में ईसाई धर्मप्रचारक ज़्यादा सक्रिय थे, इसकी दो प्रमुख वजहें थीं, एक यह कि हकूमत पर उनका कबज़ा था, हाकिम उनकी पीठ ठोंकते थे, दूसरे वो धार्मिक पुस्तको और विज्ञान की नई शाखाओं से सुपरिचित थे। हमारे उलेमा ने अपने रिवायती हथियारों से मुक़ाबला करना चाहा लेकिन बुरी तरह नाकाम रहे। क्योंकि वो नवीन विज्ञान के साथ साथ अन्य धर्मों की धार्मिक पुस्तकों से भी अनजान थे, जवाब देते भी तो कैसे। हालत यह थी कि खुले आम इस्लाम और उसके पैग़म्बरश्री^{सल्ल} को बुराभला कहा जाता, इस्लाम पर हमले किये जाते। और मुसलमान बेबस तमाशाइयों की तरह सब कुछ निहारते रहते।

इतने में अल्लाह तआला ने 'इलहाम' द्वारा हज़रत मिर्ज़ा गुलाम अहमद साहिब क़ादियानी (1835-1908 AD) को मुजदिह नियुक्त कर दिया, और यह भी बता दिया कि वो इस चौदवीं सदी हिजरी के अकेले और एकमात्र मुजदिह हैं। हज़रत मिर्ज़ा साहिब ने आते ही अल्लाह के हुक़म और उसकी विशेष सहायता से अकेले ही, इन सब महाजों पर, एक चौमुखी राक्षात्मक जंग आरंभ कर दी और दुश्मन को ख़मोश कर दिया। जगह जगह बहसों और मनाज़िरे (शास्त्रार्थ) करके दुश्मनों की जुबानें बन्द कर दीं। आप ने चार जिल्दों पर आधारित एक समारकीय किताब भी प्रकाशित की, जिस का नाम "बराहीन ए अहमदिया" था। इस में इस्लाम की खूबियों, उसके आध्यात्मिक वरदानों

के बखान के साथ साथ मुखालिफों के एतराजों का अकाट्य जवाब भी था। सब से बढ़ कर यह कि अन्य धर्मों में पाई जाने वाली खामियां और दोषों की चर्चा भी थी। इस पलट वार ने जंग के मैदान का नक़शा ही बदल दिया। वही दुश्मन जो कल तक खुले आम इस्लाम और उसके पैग़म्बरश्री^{सल्ल} को ललकारता था वो दुबक कर बैठ गया। देवबन्दी मसलक (पंथ) के एक महा विद्वान, मौलाना मुहम्मद अली मोनगीरी, जो दारुल-उल्लूम नदवा लखनऊ के नींवदाता भी हैं, वो "बराहीन ए अहमदिया" के बारे में लिखते हैं :

"इस उमदा और *मबसूत* (यानि तर्कों और दलीलों से भरी हुई) किताब में दो तौर से *मज़हब ए इस्लाम* की *हक़ानियत* (सच्चाई) साबित की है : अवल—तो तीन सौ *दलाइले अक़लिया* (यानि अक़ली दलीलों) से, *दोम* (यानि दूसरे) उन आसमानी निशानियों से जो सच्चे दीन की सच्चाई साबित करने केलिये ज़रूरी हैं। हक़ यह है कि *इसबाते हक़ीकत मज़हबे इस्लाम* (यानि इस्लाम धर्म की सत्यता को स्थापित करने) केलिये यह उमदा किताब है....."

(*"पैग़ाम ए मुहम्मदी"*, मुहम्मद अली मोनगीरी, पृ. 306)

आधुनिक युग के एक बहुत बड़े और सुप्रसिद्ध मुस्लिम विद्वान डॉ. असरार अहमद का इक़रार है कि हज़रत मिर्ज़ा साहिब कादियानी ने हिन्दुओं के सब से बड़े और खतरनाक धर्म-प्रचारक स्वामी दयानन्द सरस्वती और शक्तिशाली ईसाई प्रचारकों को पराजित कर दिया। इस तरह वो सभी उलेमा की आँख का तारा बन गए (यह एतराफ़ You Tube पर मौजूद है)। जब भी, जहां भी हिन्दुस्तान के किसी कोने से इस्लाम पर कोई एतराज होता तो उसको जवाब केलिये हज़रत मिर्ज़ा साहिब के पास भेज दिया जाता। चौदवीं सदी स्माप्त हो चुकी है, उस में हज़रत मिर्ज़ा साहिब के सिवा किसी और ने मुजद्दिद होने का दावा नहीं किया। इस तरह मुजद्दिद वाली भविष्यवाणी हर दृष्टि से हज़रत मिर्ज़ा साहिब के

पक्ष में ही पूरी हुई। लोग मिर्जा साहिब को कुछ और न भी मानें मुजद्दिद तो उन्हें मानना ही पड़े गा, क्योंकि अल्लाह ने इस पावन पद पर किसी और को *इलहाम* द्वारा नियुक्त न किया। कबूलियत का यह सिलसिला पूरे गयारह बारह साल तक चला।

अचानक हज़रत मिर्जा साहिब को *इलहाम* द्वारा यह आदेश मिला “ईसा मसीह (जिसके दुबारा आने का लोगों को इन्तिज़ार है) वफ़ात पा चुक हैं (आसमान पर सशरीर जिन्दा नहीं), हम ने तुम्हें उसका मसील (प्रतिरूप) बना कर भेजा है।” इस से पहले हज़रत मिर्जा साहिब भी आम मुसलमानों की तरह यही मानते थे कि स्वयं हज़रत ईसा आसमान से धरती पर उतरेंगे। यह *इलहाम* पाकर वो हैरान रह गए। कोई भी *वली* (मुस्लिम सन्त) अपने *इलहाम* को उस वक्त तक मान्य नहीं समझता जब तक वो कुरआन शरीफ़ की कसौटी पर खरा न उतरे। अगर *इलहाम* कुरआन की शिक्षाओं के विरुद्ध हो तो उसे तत्काल रद्द कर दिया जाता है। जब हज़रत मिर्जा साहिब ने इस *इलहाम* को कुरआन की कसौटी पर परखा तो उन्हें 30 आयतें मिलीं जो हज़रत ईसा की मृत्यु साबित करती थीं। ऐसी हदीसों भी मिलीं जिन में हज़रत ईसा के वफ़ात पा जाने का साफ़ उल्लेख था। आश्चर्य पर आश्चर्य यह कि बुख़ारी शरीफ़ में आने वाले मसीह का हुलिया इस्राईली इसा मसीह से बिल्कुल भिन्न बताया गया है। मतलब यह कि वो एक अलग व्यक्तित्व होगा।

इधर इस्लामी धर्मसाहित्य में यह भविष्यवाणियां भी मौजूद थीं कि जब आने वाला मसीह प्रकट होगा तो मुसलमान उलेमा उसकी डट कर मुख़ालफ़त करेंगे, और उसको इस्लाम का सब से बड़ा दुश्मन करार देंगे।

हज़रत मिर्जा साहिब केलिये दो ही रास्ते थे, या तो लोगों का समर्थन और अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने केलिये इस इलहामी आदेश को नज़रांदाज़ कर देते। और पूर्ववत इज़्ज़त की जिन्दगी जीते। या हज़रत इबराहीमअस की तरह अल्लाह की प्रसन्नता हेतु बिना डरे या बिना किसी

संकोच के मुखालफत की आग में सहर्ष कूद जाते। उन्होंने ने दुनिया परस्ती की तुलना में खुदा परस्ती को वरीयता दी, और वफ़ाते मसीह के साथ साथ अपने मसीले ईसा होना का एलान भी कर दिया। इस एलान के साथ ही उलेमा ने उनको काफ़िर और इस्लाम के दायरे से बाहर घोषित कर दिया। देवबन्द के महा हदीसवेता मौलवी अनवर शाह काश्मीरी ने यहां तक कह दिया कि जो व्यक्ति हज़रत ईसा को पर्ववर्ती पैग़म्बरों की तरह मृत समझे वो काफ़िर और इस्लाम से ख़ारिज है। लेकिन कालांतर में हज़रत मिर्ज़ा साहिब के इलहाम की सच्चाई दुनिया के सामने आगई। उलेमा ने जान लिया कि वाकयी हज़रत ईसा की मौत हो चुकी है वो कतअन आसमान पर सशरीर जिन्दा नहीं। बस अवाम में यह इक़रार करते हुए घबराते हैं, कि कहीं मिर्ज़ा की तरह उनकी प्रतिष्ठा भी ख़तम न हो जाये। लेकिन बहुत सारे महा विद्वानों ने खुले बन्धों हज़रत ईसा मसीह की वफ़ात की लिखित घोषणा कर दी है।¹

जब आखिल भारत के 'मुफ़ती ए अज़म' मौलाना किफ़ायत उल्लाह देहलवी से पूछा गया कि अगर कुरआन व हदीस से हज़रत ईसा मसीह की मृत्यु साबित हो जाए तो उन सही हदीसों की क्या व्याख्या होगी जिन में ईसा मसीह के दुबारा आने की चर्चा है। उन्होंने ने उत्तर दिया कि व्याख्या वही होगी जो जनाब मिर्ज़ा गुलाम अहमद साहिब कादियानी ने की है, यानि कोई दूसरा व्यक्ति ईसा का रोल माडल बन कर आयेगा।

बार बार समझाने के बाद भी जब उलेमा *तकफ़ीर* से बाज़ न आये, बल्कि अहमदियों को तरह तरह से सताने लगे। जायदादें लूटीं, जान से मार दिया, मस्जिदों में दाखिल होने से रोक दिया, अहमदी मुर्दों को मुस्लिम क़बरिस्तानों में दफ़न न होन दिया। तब हज़रत मिर्ज़ा साहिब ने मजबूर हो कर यह एलान किया कि अल्लाह के रसूल^{सल्ल} ने

¹ देखो हमारी पुस्तक "हज़रत ईसा मसीह की मृत्यु"।

फ़रमाया है कि जो मुसलमान किसी *कलमा* पढ़ने वाले, मुसलमानों के *किबला* की तरफ़ मुंह करके नमाज पढ़ने वाले को काफ़िर कहता है वो खुद काफ़िर बन जाता है। इस लिये जब तक उलेमा और उनके अनुयायी इस ग़ैर-इस्लामी हरकत से बाज़ नहीं आते हम भी उनको सच्चा मुसलमान तसलीम करने केलिये तैयार नहीं।

अहमदियों के कादियानी घुट ने कारणवश इन शब्दों को दूसरे रंग में लेलिया। उन्होंने ने यह घोषण कर दी कि असल में मिर्जा साहिब का मानना भी ईमान का अनिवार्य अंश है, जो व्यक्ति आप को नहीं मानता वो सचमुच काफ़िर और दायरा इस्लाम से बाहिर है। और अगर कोई मुसलमान उन्हें अपने दावाओं में सच्चा भी समझता हो, लेकिन उनकी *बैअयत* में शामिल न हो तो वो भी पक्का काफ़िर है।

विचाराधीन पुस्तक इस विषय का सविस्तार प्रतिपादन है।
भवदीय,

खुर्शीद आलम तरीन

12-10-2020

بِسْمِ اللّٰهِ الرَّحْمٰنِ الرَّحِیْمِ

ज़रूरी निवेदन

मैं हर उस व्यक्ति से, जो अहमदी सिलसिला (संप्रदाय) में शामिल है, उसके पवित्र संस्थापक हज़रत मिर्जा गुलाम अहमद साहिब (अ.र.) के नाम का वासता दे कर निवेदन करता हूँ कि वह थोड़ी देर के लिए मेरे वजूद को दरमियान (बीच) से अलग समझ कर और

*مردبانڈ کہ گیرداند رگوش درنوشت است پندردیوار
(مرد وہی ہے جو دیوار پر لیکھی نسیहत کو
گہبی आवज़ जानकर उस पर कान धरे और यह
भूल जाये कि नसीहत करने वाला कौन है।)*

पर अमल करके उन बातों पर चिंतनमनन करे जो इन पृष्ठों में मैं ने पेश की हैं। आखिर मियां महमूद अहमद साहिब (देहांत 1965 ई.)¹ को अल्लाह ने नियुक्त नहीं किया कि उनसे ग़लती की संभावना न हो। सब जानते हैं कि हज़रत मौलाना हकीम नूरुद्दीन साहिब (देहांत 1914 ई.)² ने अपनी अन्तिम बीमारी के दौरान एक धर्म-सभा में कुफ़्र और इस्लाम के मसले पर चर्चा करते हुए यह फ़रमाया था कि

“हमारे मियां³ ने इसको नहीं समझा।”

इस बात का इन्कार स्वयं मियां साहिब भी नहीं कर सकते, और इस से भी इन्कार नहीं कर सकते कि हज़रत

¹ हज़रत मिर्जा साहिब के बड़े बेटे, जो हज़रत हकीम नूरुद्दीन (अ.र.) के देहांत के बाद 14 मार्च 1914 ई. को कायिनी जमात के ख़लीफा बने।

² अपने युग के एक महा विद्वान और हज़रत मिर्जा साहिब के पहले ख़लीफा (उत्ताधिकारी), जिन्होंने 1908 ई. में जमात अहमदीया की बाग़ डोर संभाली।

³ जनाब मिर्जा बशीर उद्दीन महमूद अहमद साहिब मुराद हैं। पंजाब में इज़्जतदार और ख़ानदानी लोगों, विशेषकर नवजवानों, को मियां साहिब कहकर पुकारा जाता था।

मौलाना साहिब के फ़तवे के अधीन ही उन्होंने ने हज के दौरान ख़ाना काबा में एक दूसरे इमाम के पीछे नमाज़ पढ़ी जो अहमदी न था। मैं नहीं कहता कि आप लोग मेरे साथ हो जाएं। लेकिन यह ज़रूर कहता हूँ कि चालीस करोड़ मुसलमानों⁴ को दायरा इस्लाम से ख़ारिज (निष्कासित) करने का बोझ बड़ा भारी है। अतः ज़रा टंडे दिल से सोचें कि क्या हज़रत मसीह-ए-मौऊद⁵ की शिक्षा यही थी? और इस पर भी चिन्तनमनन करो कि हम को जो काफ़िर और मुर्तर कहा जाता है। अल्लाह ने हमारी इतनी सहायता क्यों की कि दो चार आदमियों से एक जमात बना दी। और फिर अर्थिक सहायता इस कदर कि वह काम जो सारी जमात को करना मुश्किल नज़र आता था, यानि कुरआन शरीफ़ के अंग्रेज़ी अनुवाद का छपवाना। अजि इसका पहला संस्करण जो पांच हज़ार से अधिक कापियों पर आधारित था समाप्त हो कर दूसरे संस्करण की दस हज़ार प्रतियां भी लगभग ख़त्म होने वाली हैं। वह अंजुमन जिस ने 1914 ई. में बग़ैर एक पैसा हाथ में होने के काम शुरू किया था, आज उसका बजट तीन लाख से ज़्यादा है। यह महज़ अल्लाह का अनुग्रह है, हम मैं से किसी की कोई क़ाबिलीयत नहीं। मेरे दिल में एक ही तड़प है कि हज़रत मसीह मौऊद की जमात इस ख़तरनाक ग़लती से निकल जाए।

मुहम्मद अली
22 आगस्त 1926 ई.

⁴ अब यह संख्या 190 करोड़ से ऊपर है।

⁵ यानि वह मसीहा जिसके आने का मुसलमानों को वादा दिया गया था, मुसाद हज़रत मिर्ज़ा गुलाम अहमद साहिब (अ.र.) हैं।

بِسْمِ اللّٰهِ الرَّحْمٰنِ الرَّحِیْمِ
نَحْمَدُهٗ نُصَلِّیْ عَلٰی رَسُوْلِهٖ الْکَرِیْمِ

अल्लाह के नाम से, जो अपार दयालु, बार बार कृपा करने वाला है। हम उसी की प्रशंसा करते हैं, और उसके माननीय रसूल ﷺ पर दरुद भेजते हैं।

وَلَا تَقُولُوا لِمَنْ أَلْفَىٰ إِلَيْكُمْ السَّلَامَ لَسْتَ مُؤْمِنًا

“और जो (अपना मुसलमान होना जाहिर करने केलिये) तुम्हें ‘अस्सलामु अलैकुम’ कहे उसे यह मत कहो कि तू ईमान वाला (मुसलमान) नहीं (4:94)।”

أَيُّمَارَ جُلٍ قَالَ لِأَخِيهِ يَا كَافِرٌ فَقَدْ بَاءَ بِهَا أَحَدُهُمَا (متفق عليه)

لَا تَكْفُرُوا أَحَدًا مِنْ أَهْلِ الْقِبْلَتِكَ (معجم صغير)

अगर मुसलमानों ने अल्लाह और उसके रसूल ﷺ के स्पष्ट और स्थायी आदेशों का महत्त्व समझा होता तो ‘तक्फ़ीर’ (मुसलमान भाई को काफ़िर कहना) का विचार कभी उनके मन में न आता। मुसलमानों की आम जनता ही नहीं बल्कि उनके तथाकथित उलेमा भी अपनी परिकल्पनाओं और इमेजिनेशनों के पीछे चलते हैं। और अमलन कुरआन और हदीस की अवज्ञा और अवहेलना करते हैं।

‘तक्फ़ीर’ पर सब से बड़ी रोक स्वयं कुरआन शरीफ़ में मौजूद है। हर वह व्यक्ति जो मुसलमान कहलाता है उस के लिए कुरआन शरीफ़ और हदीस के सिवाय कोई और तर्क या दलील हुज्जते शर्ही नहीं। इस लिए मैं ने इस लेख के शिर्षक में एक कुरआनी आयत और दो हदीसों नक़ल की हैं। कुरआनी आयत में अल्लाह तआला का यह हुक्म है कि जो व्यक्ति तुम्हें अस्सलामु अलैकुम कहे उसे यह न कहो कि तू ‘मुअ्मिन’ (ईमान वाला) नहीं। ‘मु.त. फ़.कुन अ.लैह’ हदीस में (यानि ऐसी हदीस जो बुख़ारी शरीफ़ और मुस्लिम शरीफ़ दोनों में पाई जाती हो) अल्लाह

के रसूल^{सल्ल} फ़रमाते हैं कि “जो व्यक्ति अपने (मुसलमान) भाई को काफ़िर कहे तो कुफ़्र उन दोनों में से एक पर पड़ता है। और दूसरी हदीस में फ़रमाते हैं कि “अपने ‘अहले किबला’ की तकफ़ीर मत करो”, यानि उस व्यक्ति को काफ़िर न कहो जो मुसलमानों के किबला की तरफ़ मुँह करके नमाज़ पढ़ता हो। इस आयत और इन दो हदीसों से यह मालूम हुआ कि खुदा और उसका रसूल^{सल्ल} मुसलमानों की ‘तकफ़ीर’ को किस कदर नापसंद फ़रमाते हैं। और इस अपराध की सज़ा कितनी ख़तरनाक बतायी गई है कि जो व्यक्ति किसी मुसलमान को काफ़िर कहता है तो वह कुफ़्र उसी पर उलट कर पड़ता है। इस कदर भयंकर एवं शिक्षाप्रद सज़ा क्यों तजवीज़ की गई? सिर्फ़ इस लिए कि लोग उस ख़तरनाक जुरम से, जो इस्लामी एकता और अखंडता को विखंडित करता है, बाज़ रहें। जिस तरह समाज की व्यवस्था तथा इन्सानी जीवन का संरक्षण इसके बिना संभव नहीं कि कातिल को मृत्यु दण्ड दिया जाए। ठीक वैसे ही इस्लामी एकता को इन्सानी जीवन के संरक्षण के समान करार देते हुए हज़रत पैग़म्बरश्री मुहम्मद^{सल्ल} ने फ़रमाया कि जो व्यक्ति इस एकता को तौड़े यानि अपने मुसलमान भाई को कफ़िर कहे तो उसके साथ भी वही सलूक किया जाए जो उसने अपने भाई के साथ किया, यानि वही कुफ़्र उस पर लौटाया जाए। और ऐसे मुजरिम को इस्लामी बिरादरी का सदस्य न समझा जाए। और उस के साथ वह सलूक न किया जाए जो मुसलमान को मुसलमान के साथ करना चाहिए। यह सिर्फ़ हमारा अनुमान ही नहीं, बल्कि तिर्मजी शरीफ़ की एक हदीस में साफ़ फ़रमाया है कि “मुसलमान को काफ़िर कहने वाला उसके कातिल के समान है, यानि जिस तरह कातिल की सज़ा ‘किसास’ यानि खून का बदला है, उसी तरह काफ़िर कहने वाले मुसलमान की साज़ा भी ‘किसास’ यानि बदले वाली सज़ा ही है। चूंकि मेरे इस लेख के असल संबोध्य वो लोग हैं जिन्होंने ने हज़रत मसीह मौऊद (अ.र.) की जमात कहला कर भी

मुसलमानों की 'तक्फ़ीर' के गुनाह को अपने ज़िम्मा लिया है, इस लिए मैं ने हज़रत मिर्ज़ा गुलाम अहमद साहिब का एक निश्चयात्मक और निर्णायक वाक्य भी लिख दिया है, ताकि शीर्षक में ही इस फ़ैसला को देख हमारे कादियानी अहमदी भाइयों का ध्यान असल हकीकत की ओर आकर्षित हो।

जब एक मुसलमान दूसरे मुसलमान से मिलता है तो वह उसे *अस्सलामु अलैकुम!* कहता है, और यह एक बहुत ही मोटा निशान मुसलमान होने का है। नमाज़ जो इस्लाम-धर्म का प्रमुख प्रतीक है, इस में सब मुसलमान क़िबला की तरफ़ मुँह करते हैं यह भी एक अति स्पष्ट निशान मुसलमानी का है। इन खुले निशानों को अपने भाई में मौजूद पा कर दूसरे भाई के लिए जाइज़ नहीं कि वह उसके मुसलमान होने में शक करे या उसे काफ़िर ठहराये। इन मोटे निशानों को इस्लाम के खुले प्रतीक करार दे कर यह समझाया है कि बारीक तावीलात से अपने भाइयों को काफ़िर करार देना जाइज़ नहीं और न ही काफ़र करार देने के लिए दूसरों के गुप्त रहस्यों की खोजबीन करना उचित है। बल्कि उनके खुले लक्षणों को देखो और उनका आम व्यवहार देखो। इन मोटे लक्षणों काफ़ी समझा है, कि मेलजोल में अस्सलामु अलैकुम कहता हो या मुसलमानों के क़िबले का परित्याग न किया हो। तात्पर्य यह कि जब एक व्यक्ति में इस्लाम के मोटे निशान मौजूद हों तो हमारे लिए इसको मुसलमान समझने के लिए यही काफ़ी है, और किसी के लेख या विचारों की मनमानी व्याख्या कर उस के खिलाफ़ मत प्रकट करना जाइज़ नहीं। यदि किसी से 'तावील' (व्याख्या) में या ज्ञान संबंधी बातों में ग़लती भी हो गई है तो भी जब तक उस में इस्लाम की मोटी और खुली निशानियां विद्यमान हों गी किसी को अधिकार नहीं कि उसे इस्लामी बरादरी से बाहर निकाले। यह कितनी बड़ी दयालुता और कितना बड़ा उपकार मुस्लिम समुदाय पर था कि इस्लामी एकता की बुनियाद को ऐसा सुदृढ़ कर दिया, और पेच दर पेच

तावीलात द्वारा तकफ़ीर करने को साफ़ शब्दों में रोक दिया।

मुस्लिम समुदाय पर बहुत से संकट और मुसीबतें आयीं। भीतरीय उपद्रव और फ़साद उत्पन्न हुए। पहले ही ख़लीफ़ा हज़रत अबू बकर के ज़माने में मुसलमानों के एक गिरोह ने बैतुल माल (मुस्लिम जनकोश) में ज़कात देने से इनकार किया। तीसरे ख़लीफ़ा हज़रत उसमान मुसलमान कहलाने वालों के हाथ से शहीद हुए। हज़रत माविया और हज़रत अली में लड़ाइयां हुईं, दोनों ओर से सहाबह मारे गए। लेकिन क्या पाक दिल लोग थे, हज़रत अली ने बावजूद इस मुख़ालफ़त के, कि जस ने इस्लामी एकता को विखंडित कर दिया, सिर्फ़ यही कहा कि “ये हमारे मुसलमान भाई हैं जिन्होंने हमारे ख़िलाफ़ बगावत की है, हम न इनको काफ़िर कहते हैं और न फ़ासिक़ (अधर्मी)।” यह उस ख़लीफ़ा का कथन है जो शारीरिक एवं आध्यात्मिक दोनों ख़िलाफ़तों को अपने अन्दर जमा रखता था। लेकिन वह विकट मुसीबत जिस ने इस्लामी एकता को विखंडित कर दिया, वह ख़वारिज की मुसीबत थी, जिन्होंने सर्वप्रथम मुसलमानों में तकफ़ीर की बुनियाद डाली। क़द शक्कू असा अलमुस्लिमीन, उन्होंने ने मुसलमानों के समुदास की एकता और संघठन को टुकड़े टुकड़े कर दिया। कारण, उन्होंने ने मुख़ालिफ़ गुट में इस्लाम के खुले लक्षण देख कर भी एक ग़लत और दूषित तावील (व्याख्या) के आधार पर उन को काफ़िर कहा, और उस समय से लेकर आज तक यह बीमारी बढ़ती ही चली गई। यहां तक कि मामूली मामूली फ़रोई मतभेदों पर एक दूसरे पर कुफ़्र के फ़तवे लगाये जाने लगे, और जहां किसी को किसी दूसरे की कोई बात अप्रिय लगी तो तुरंत कुफ़्र का फ़तवा लगा दिया। एक फ़िरक़े ने दूसरे को और दूसरे ने तीसरे को काफ़िर करार दिया। यहांतक कि यदि इन कुफ़्र के फ़तवों के आधार पर मुसलमानों की जनगणना की जाए तो शायद मुसलमान कहलाने के लिए दुनिया में एक भी व्यक्ति शेष न बचे। किन्तु जहां इस कुरीति के

बढ़ने का दुखद नज़ारा दृष्टिगत होता है वहीं एक झलक आशा की भी दिखाई देती है। क्योंकि *तकफ़ीर* की यह बीमारी अब उस हद तक तरक्की कर चुकी है कि इसके बाद इसके पतन की ही उमीद की जा सकती, इस से अधिक बढ़ने की अब इस में गुंजाइश ही नहीं।

हां! एक नज़ारा विशेष रूप से दुखद और खेदजनक है। अल्लाह तआला ने जब इस सदी के *मुजद्दिद* और इस *उम्मत* (संपूर्ण इस्लामी समुदाय) के मसीहा को इस दौर की बहुविध बुराइयों और विकारों के सुधार के लिए नियुक्त किया तो उसी के हाथ से यह सिद्धांत भी ज़िन्दा कराया कि अगर किसी व्यक्ति में नन्नावे कारण कुफ़्र के और एक वजह इस्लाम की हो तो भी उसे काफ़िर मत कहो, बल्कि मुसलमान कहो। यह वह बात है जिस को हज़रत मसीहे मौऊद ने अपने विरोधियों के मुकाबिले पर लिखा। और इस पर इस क़दर ज़ोर दिया, कि जिस भी व्यक्ति को उनकी लिखित साक्षी का पास हो वह मुसलमानों की *तकफ़ीर* के विचार का कठोर विरोधी होगा। मुसलमानों को काफ़िर कहने का इल्ज़ाम किसी भी तरह हज़रत मसीहे मौऊद पर लगाया नहीं जा सकता। क्योंकि जब मुख़ालिफ़ उलेमा ने उन पर कुफ़्र का फ़तवा लगाया तो उन्होंने ने विरोधी उलेमा को यही उसूल याद दिलाया कि यदि किसी में नन्नानवे कारण कुफ़्र के नज़र आयें लेकिन एक खुला निशान इस्लाम का मौजूद हो तो उसे काफ़िर कहना जाइज़ नहीं। अब यह तो हो नहीं सकता कि वो स्वयं इस उसूल की सत्यता के कायल न हों। इस सत्यवादी महापुरुष को अल्लाह तआला ने वह सत्यप्रिय हृदय प्रदान किया था जो इस तरह की चालाकियों से बिल्कुल पाक था, कि महज़ वक़्ती बचाव की ख़तिर अपनी सफ़ाई के लिए एक झूठी बात दुनिया के सामने पेश कर देता। यह महा पुरुष दिल से इस बात का कायल था कि किसी भी मुसलमान को, जिस में एक भी वजह इस्लाम की नज़र आती हो, काफ़िर नहीं करार दिया जा सकता। इस नियम का समर्थन कुर्आन और हदीस दोनों में मौजूद

है। यहाँतक कि उसने सफ़ाई से अपने बारे में यह भी लिख दिया कि मेरे दावा के इन्कार की वजह से कोई व्यक्ति काफ़िर नहीं हो सकता। लेकिन खेद की बात है कि इतने स्पष्ट और असंदिग्ध एलान के बावजूद आप के अनुयायियों का एक गिरोह, जिन का नेतृत्व मियां बशीरुद्दीन महमूद अहमद साहिब कादियानी (देहांत 1965 ई.) कर रहे हैं, मुसलमानों की तकफ़ीर के पीछे पड़ गया है। और इतना भी नहीं समझता कि इस्लामी एकता को यों तबाह करना कोई छोटा गुनाह नहीं, बल्कि अल्लाह के उद्देश्य का खुला उल्लंघन है। क्योंकि अल्लाह तआला ने हज़रत पैग़म्बरश्री मुहम्मद^{सल्ल} को *खातमन नब्बियीन* बना कर यह इरादा किया था कि दुनिया की सारी कौमों को एक झंडे तले इकट्ठा करे, और मुसलमानों में एक अपूर्व एकता कायम करे, और ये लोग इसी एकता को भंग कर रहे हैं। क्या उन्हें मालूम नहीं कि जब दूसरों ने उन्हें काफ़िर कहा तो नतीजा क्या हुआ? एक ख़तरनाक दराड़ पैदा हुई और मुसलमान मुसलमानों के दुश्मन बन गए। और क्या उनको यह समझ नहीं आता कि उनके दूसरों को काफ़िर कहने का नतीजा वही ख़तरनाक दारड़ है, और वह *तकफ़ीर* जिस को अन्य मुसलमान अब छोड़ रहे हैं, वही उन्होंने ने इख़तियार की। नतीजा इसका फिर वही होगा जो पहले हुआ था कि मुसलमानों के दिलों में अहमदिया सम्प्रदाय के प्रति वह प्रेम दूर हो जाएगा जो कालांतर में क्रमशः पैदा हो रहा है। और पुनः वो उनके दुश्मन और ये उनके दुश्मन हो जाएं गे। और आपसी सौहार्द के रिश्ते कट जाएं गे। हां! पहली बार इसका पापदोष *मुकफ़िर* (काफ़िर कहने वाले) मौलिवियों के सिर पर था, अब मुसलमानों को कफ़िर करार देने वाले इस फ़िरका के सिर होगा। पहले उलेमा ने ग़लती की और हज़रत मसीहे मौऊद और उनकी जमात को काफ़िर करार दिया, और लोगों के दिलों में मुसलमानों के एक गिरोह के प्रति घृणा और नफ़रत पैदा कर दी। लेकिन जब बहुत से लोग इस ग़लती से निकल रहे थे और

अहमदी जमात के साथ प्रेम और हमदरदी के संबंध शीघ्रता से बढ़ रहे थे तो अकस्मात कादियान से हजरत मसीहे मौऊद को बदनाम करने के लिए यह एलान निकला कि सारी दुनिया के मुसलमान काफ़िर हैं। इन्तिकाम की एक छिपी हुई इच्छा ने सोए हुए फ़ितना को जगा दिया, फलतः जो अबतक अन्याय का शिकार थे वह स्वयं ज़ालिम बन गया।

यों तो मियां साहिब की यह मान्यता, जिस के अन्तर्गत तमाम अहले किबला, सिवाय अहमदियों के, काफ़िर करार दिये गए हैं, एक खुली वास्तविकता है। फिर भी नमूना केलिये चंद हवाले प्रस्तुत कर रहा हूँ। ध्यान रहे कि यह धारणा अप्रैल 1911 ई. से प्रचलित हुई, जब मियां साहिब ने अपनी उर्दू पत्रिका 'तशहीज़ुल-अज़हान' में एक लेख प्रकाशित किया जिस का शीर्षक था: "मुसलमान वही है जो खुदा के सब मामूरों को माने"। इस लेख में उन तमाम लोगों को काफ़िर करार दिया गया था जो हजरत मसीह मौऊद के दावा को न मानें, चाहे वो आप को बुरा कहें और काफ़िर जानें या अच्छा कहें और सच्चा इन्सान तसलीम करें। चाहे उन्हें उनके दावे की जानकारी हो या न हो, या उन तक सन्देश पहुंचा हो या न पहुंचा हो वो साक्षात काफ़िर हैं। चुनांचि उक्त पत्रिका के पृष्ठ 139 पर उन लोगों को जिन के पास सन्देश नहीं पहुंचा काफ़िर करार दे कर इस्लाम जगत के सभी मुसलमानों पर कुफ़्र का फ़तवा लगाया गया है :

"तीसरी बात यह मालूम होती है कि जन पर *तबलीग़* नहीं हुई (यानि जिन तक सन्देश नहीं पहुंचा), उनका हिसाब खुदा के साथ है, हम नहीं जानते कि तबलीग़ उनको हो चुकी है या नहीं क्योंकि किसी के मनोभावों का बोध संभव नहीं इस लिए शरियत की बुनियाद जाहिर पर है, हम उनको काफ़िर ही कहेंगे।"

और पृष्ठ 141 पर है:

"अतः न सिर्फ़ उसको, जो आपको काफ़िर तो नहीं कहता लेकिन आपके दावा को नहीं मानता, काफ़िर

करार दिया गया है, बल्कि वह भी जो आप को दिल से सच्चा करार देता है और जुबानी भी आका इन्कार नहीं करता लेकिन अभी 'बैअत' में उसे कुछ संकोच है, काफ़िर करार दिया गया है।"

'अनवार-ए-ख़िलाफ़त' में जो 1916 की किताब है, और वास्तव में 1915 के *जलसा सालाना* (वार्षिक सम्मेलन) का भाषणा है जिस को मियां साहिब ने संशोधन के बाद प्रकाशित किया, लिखा है:

"हमारा यह फ़र्ज है कि हम ग़ैर-अहमदियों को मुसलमान न समझें।"

यही भाषण अख़बार 'अल्-फ़ारूक' के 16 जनवी 1916 वाले अंक में प्रकाशित हुआ, लेकिन वहां ये शब्द आये हैं :

"जैसे एक ग़ैर-अहमदी का फ़र्ज है कि जब तक वह बैअत में दाखिल न हो मसीहे मौऊद और उनके अनुयायियों को मुसलमान न समझे, ऐसे ही एक अहमदी का फ़र्ज है कि जो मसीहे मौऊद की बैअत में नहीं उसे मुसलमान न समझे।" (पृ. 10)

'आयीना सदाक़त' नामक किताब के पृष्ठ 35 पर लिखते हैं :

"यह धारणाओं या मान्यताओं का परिवर्तन मौलवी (मुहम्मद अली) साहिब तीन विषयों से संबंधित बताते हैं :

प्रथम : यह कि मैं ने हज़रत मसीहे मौऊद के बारे में यह विचार फैलाया कि आप सचमुच नबी हैं,

द्वितीय : यह कि आप ही आयत 'इस्महू अहमद' वाली भविष्यवाणी (कुर्आन शरीफ़, सूः सफ़, आयत 2) के प्रयोज्य हैं।

त्रतीय : यह कि वो सब मुसलमान जो हज़रत मसीहे मौऊद की बैअत में शामिल नहीं हुए, चाहे उन्होंने ने हज़रत मसीहे मौऊद का नाम भी न सुना हो वो दायरा इस्लाम से ख़ारिज हैं।

मैं तस्लीम करता हूँ कि ये मेरी मान्यताएं हैं।"

स्वयं हज़रत मसीहे मौऊद के जीवन काल में भी यह आरोप लगा कि आप भी दूसरे मुसलमानों को काफ़िर कहते हैं। इस का जवाब आप खुद दे चुके हैं, और अपनी जिन्दगी के आखिरी दिनों में दे चुके हैं, यानि उनके आखिरी दौर की किताब 'हकीकतुल-वह्य' के पृष्ठ 120 पर यह आरोप और उसका उत्तर निम्न शब्दों में मौजूद है :

“फिर इस झूठ को तो देखो कि हमारे जिम्मा यह (आरोप) लगाते हैं कि हम ने बीस करोड़ मुसलमानों और कलमा पढ़ने वालों को काफ़िर ठहराया। हालांकि हमारी ओर से तकफ़ीर में कोई पहल नहीं हुई। खुद ही इन के उलेमा ने हम पर कुफ़्र के फतवे लिखे, और सारे पंजाब और हिन्दुस्तान में शौर डाला कि ये लोग काफ़िर हैं। और नासमझ लोग इन फतवों के कारणर घृणा से कुछ ऐसे खीज गए कि हम से सीधे मुँह नरम बात करना भी उनके निकट पाप हो गया। क्या कोई मौलवी या कोई और मुख़ालिफ़ या सजादा नशीन यह सबूत दे सकता है कि पहले हम ने इन लोगों के फतवा-ए-कुफ़्र से पूर्व इनको काफ़िर ठहराया था? यदि कोई ऐसा कागज़ या इश्तिहार या रिसाला हमारी तरफ़ से इन लोगों के 'फतवा-ए-कुफ़्र' से पहले प्रकाशित किया हुआ है जिस में हम ने मुख़ालिफ़ मुसलमानों को काफ़िर ठहराया हो तो वो पेश करें अन्यथा खुद ही सौच लें कि यह किस कदर ख़यानत है कि काफ़िर ठहरा दें आप और फिर हम पर यह इल्ज़ाम लगा दें कि मानो हम ने तमाम मुसलमानों को काफ़िर ठहराया है। इस कदर झूठ, ख़यानत और ख़िलाफ़े वाका लांछन कितना दिल दुखाने वाला है, इसका सहज अनुमान हर बुद्धीमान लगा सकता है। और फिर जब उन्होंने ने अपने फतवों के द्वारा हमें काफ़िर घोषित कर दिया, और स्वयं ही इस बात के भी कायल हो गए कि जो व्यक्ति मुसलमान को काफ़िर कहे तो कुफ़्र

पलट कर उसी पर पड़ता है। अब इस सूरत में क्या हमारा हक़ न था कि हम इन लोगों को स्वयं इन्हीं के इकरार के अनुसार काफ़िर कहते?”

यह आख़िरी दिनों की तहरीर है। साफ़ है कि आप पर मुख़ालिफ़ों की तरफ़ से यह इल्ज़ाम है कि ये हम को काफ़िर कहते हैं। इसका जवाब मियां साहिब की उक्त मान्यताओं के अनुसार यों होना चाहिए था कि तुम बेशक हमारे निकट काफ़िर हो, इसी लिए हम तुम को काफ़िर कहते हैं, और हम तुम्हारे निकट काफ़िर हैं। लेकिन क्या हज़रत मसीहे मौऊद ने यही जवाब दिया? या यह कहा कि तुम ने हमें खुद काफ़िर कहा और हदीसानुसार कुफ़्र तुम पर उलट कर पड़ा। जिस के साफ़ माना ये हुए कि अगर अब भी तुम कुफ़्र का फ़तवा वापस ले लो तो हमारी तरफ़ से जो शब्द कहे गए हैं वो आप से आप वापस हो जाएं गे।

अगर सवाल संक्षेप में किया जाए तो हम ने सिर्फ़ इतना ही देखना है कि आया हज़रत मसीहे मौऊद ने दावा के वक्त या उसके बाद किसी वक्त कोई ऐसा एलान किया कि जो व्यक्ति मेरी *बैअत* नहीं करता या मेरे दावे को नहीं मानता वह काफ़िर है या दायरे इस्लाम से खारिज है। मैं कहता हूँ कि न सिर्फ़ हज़रत साहिब की ओर से कभी कोई ऐसा एलान प्रकाशित नहीं हुआ बल्कि इसके विपरीत खुले शब्दों में यह एलान मौजूद है :

“शुरू से मेरा यही मज़हब है कि मेरे दावा के इन्कार की वजह से कोई व्यक्ति काफ़िर या दज्जाल नहीं हो सकता।”

(*तर्याक अल्-कुलूब*, पृ. 130)

और इसके निचे व्याख्या हेतु यह फ़ुटनोट दिया है :

“यह नुकता याद रखने लायक़ है कि अपने दावे का इन्कार करने वाले को काफ़िर कहना—यह सिर्फ़ उन नब्बियों की शान है जो अल्लाह तआला की ओर से शरीयत और नए धर्म-आदेश लाते हैं। लेकिन शरीयत वाले नबी के सिवाय जिस कदर *मुलहम* और

मुहद्दस हैं, भले ही अल्लाह के दरबार में कैसी ही उच्च शान रखते हों, और प्रभु के वारतालाप रूपी वरदान से सम्मनित हों उनके इन्कार से कोई व्यक्ति काफ़िर नहीं बन जाता।”

ज़ाहिर है कि यदि मुसलमानों की तक़फ़ीर हज़रत मसीहे मौऊद के निकट जाइज़ होती तो चाहिए था कि इस के मुताबिक़ साफ़ शब्दों में एलान होता कि मेरे निकट सारी दुनिया के मुसलमान काफ़िर हैं। लेकिन इस एलान के विपरीत यहां बिल्कुल उलट घोषणा मौजूद है कि मेरे दावे के इन्कार की वजह से कोई व्यक्ति काफ़िर नहीं हो सकता। सिर्फ़ इतना ही नहीं बल्कि इसके साथ ही इस वाक्य से पहले ये शब्द भी मौजूद हैं कि यह हमारी वह अटल धार्मिक मान्यता है जिस पर हम इस संसार से विदा होंगे। इस साफ़ और असंदिग्ध एलान के रहते यह दुस्साहस कि इस्लाम जगत के सभी मुसलमानों को दायरे इस्लाम से ख़ारिज करार दिया जाए? और फिर इस अपवित्र धारणा को हज़रत मसीहे मौऊद के साथ जोड़ना तो दुस्साहस की इन्तिहा है।

मियां साहिब ने तो यहां तक तरक्की की है कि उन लोगों को जिन तक हज़रत मसीहे मौऊद का नाम या ख़बर तक भी नहीं पहुंची काफ़िर करार दिया है, और उनको भी जो दिल से मसीह मौऊद को सच्चा मानते हैं और मुँह से भी इकरार करते हैं किन्तु बैअत में शामिल नहीं। इस संदर्भ में मियां साहिब की तहरीरें ऊपर दरज की जा चुकी हैं। पहली धारणा के खंडन के लिए हज़रत साहिब की अन्तिम किताब 'हकीकतुल-वहा' का यह उद्धृण काफी है :

“डॉक्टर अबदुल हकीम खां अपनी पुस्तिका 'अल-मसीह अल-दज्जाल' में मुझ पर यह आरोप लगाता है कि मानो मैं ने अपनी किताब में यह लिखा है कि जो व्यक्ति मेरे पर ईमान नहीं लाये गा चाहे वह मेरे नाम से भी बेखबर हो और चाहे वह ऐसे देश में हो जहां तक मेरा सन्देश नहीं पहुंचा, तब भी वह

काफ़िर हो जाए गा और जहन्नुम में पड़े गा। यह अमुक डॉक्टर का मेरे प्रति साक्षात आरोप है। मैं ने किसी किताब या इश्तिहार में ऐसा नहीं लिखा। उस पर फ़र्ज़ है कि वह मेरी कोई ऐसी किताब पेश करे जिस में यह लिखा है।” (हकीकतुल-वहा, पृ. 78)

वह बात जिस को हज़रत मसीहे मौऊद स्वयं अपने कलम से अपने पर आरोप करार दें, आज मियां महमूद अहमद साहिब उसी को हज़रत मसीहे मौऊद की धार्मिक मान्यता करार देते हैं। आश्चर्य है कि हज़रत मसीहे मौऊद ने अपनी इस आख़िरी किताब में यहाँतक कह दिया है कि अगर उन्होंने ने अपनी किसी किताब में ऐसा लिखा है, बल्कि अबदुल हकीम साहिब से ज़ोरदार मुतालबा करते हैं कि अगर किसी किताब में वाकयी ऐसा लिखा है तो उसे पेश करे। मियां साहिब का यह बयान हज़रत मसीहे मौऊद की मान्यता से कौसों दूर ही नहीं बल्कि एकदम उसके प्रतिकूल भी है। जिस बात को हज़रत साहिब दुश्मन का आरोप ठहरायें उसी को आज तरह तरह की असंगत व्याख्याओं द्वारा हज़रत मसीहे मौऊद की मान्यता करार दिया जाता है। जो अनुचित नीति पहले मसीहा के अनुयायियों ने उनके कि बारे में अपनाई थी, अन्यायवश वही नीति आज दूसरे मसीहा के अनुयायी अपना रहे हैं। हज़रत पैग़म्बरश्री मुहम्मद^{सल्ल} ने क्या ही सच भविष्यवाणी की थी “لَتَتَّبِعَنَّ سُنَنَ مَنْ قَبْلَكُمْ شِرَارَ بَشِيرٍ وَذُرَاعاً بَدْرًا عِ” कि “तुम भी पलले लोगों के रस्तों पर चल पड़ोगे, हां! कदम बकदम उनका अनुसरण करोगे।” जब पूछा गया : يَا رَسُولَ اللَّهِ! أَلَيْسَ يُؤَدُّ : “ऐ अल्लाह के रसूल! क्या मुसलमान लोग यहूदियों और ईसाइयों के पदचिन्हों पर चल पड़ेंगे?” तो आप ने फ़रमाया : “قَالَ فَمَنْ : “हां! ऐसा ही होगा।” (बुखारी, किताब अल्-अंबिया, 60:50)

रहा दूसरा सवाल कि मियां साहिब की मान्यतानुसार जो व्यक्ति हज़रत मसीहे मौऊद को दिल से सच्चा मानता है

और मुँह से भी आपके सच्चा होने का इकरार करता है, लेकिन हज़रत साहिब की *बैअत* में दाखिल नहीं होता तो वह भी काफ़िर है। इस धारणा का खंडन चाचड़ों शरीफ़ के मशहूर सूफ़ी बुजुर्ग हज़रत ख़वाजा गुलाम फ़रीद साहिब (देहांत 1901 ई.) के वाका से होता है। उन्होंने ने हज़रत मसीहे मौऊद को दिल से सच्चा माना और मुँह से भी इकरार किया लेकिन *बैअत* न की, इसके बावजूद हज़रत साहिब ने उन्हें "*अबदे सालिह*" यानि अल्लाह का सच्चा और नेक भक्त कहा। हालांकि मियां साहिब की धारणानुसार वो काफ़िर थे। हज़रत साहिब ने उनको (فرید وقت دمصدق و صفاء) "फ़रीदे वक्त दर सिद्को साफ़ा" (यानि इस युग का वह व्यक्तित्व जो सत्यता और पवित्रता में अनुपम है) की उपाधि प्रदान की। जबकि मियां साहिब के निकट वो मुनाफ़िक (कपटाचारी) थे।

हज़रत मसीहे मौऊद की जो धार्मिक मान्यता ऊपर लिखी गई है वह स्वयं में इस कदर साफ़ और सुस्पष्ट है कि कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति एक छण के लिए भी इसके प्रतिकूल विचार कबूल नहीं कर सकता। और न इन शब्दों की कोई दूसरी व्याख्या कर सकता है। लेकिन मुश्किल यह है कि हर लेख में *मोहकिमात* (वो शब्द जिनकी एक से अधिक व्याख्या न होसके) के साथ कुछ *मुतशाबिहात* (वो शब्द जिन की एक से अधिक व्याख्याएं हो सकें) भी होते हैं। मियां साहिब ने इन '*मोहकिमात*' को छोड़ '*मुतशाबिहात*' से काम लिया है। इस लिए जनसाधारण, जो अधिक चिन्तनमनन के आदी नहीं होते, एक भ्रम में पड़ जाते हैं। कुछ लोग विस्मय में पड़ चिन्तन करना ही छोड़ देते हैं। हालांकि दुनिया की कोई भी तहरीर ऐसी नहीं जिस में *मुतशाबिहात* न हों। अल्लाह ने तो स्वयं कुर्आन शरीफ़ में बताया है कि इस दिव्य-ग्रन्थ में *मोहकिमात* के साथ साथ कुछ *मुतशाबिहात* भी हैं। अतः किसी और का लेख *मुतशाबिहात* से ख़ाली कैसे हो सकता है? नबियों-अवतारों का मामला ही ले लें। कुर्आन शरीफ़ में बार बार उनको '*मासूम*' (निष्पाप) कहा गया है। हज़रत

पैगम्बरश्री मुहम्मद^{सल्ल} के बारे में ख़ास तोर पर कहा है :
 " مَا صَلَّى صَاحِبُكُمْ وَمَا غَوَى [०३:२] ", यानि "तुम्हारा साथी
 गुमराह नहीं और न वह भटका है", किन्तु दूसरी जगह
 आता है " وَوَجَدَكَ ضَالًّا فَهَدَى [१३:१] " यानि "हम ने तुझे ज़ाल
 यानि पथहीन पाया तो मार्ग दिखाया"। तो क्या हम विस्मय
 में पड़ जाएंगे कि कहीं कुछ कह दिया है और कहीं
 कुछ, या एक बुद्धिमान की तरह वास्तविकता तक पहुंचने
 की कोशिश करेंगे? इसी प्रकार एक जगह आता है कि
 خَلَقَ यानि सृष्टि रचना सिर्फ़ अल्लाह का काम है,
 बहुदेववादियों के तथाकथित ईश्वर या देवी- देवता कभी
 कुछ रच न पाये। लेकिन दूसरी जगह हज़रत ईसा के
 बारे में फ़रमाया है कि " وَإِذْ تَخْلُقُ مِنَ الطِّينِ كَهَيْئَةِ الطَّيْرِ " यानि
 "जब तुम मिट्टी से पक्षियों की रचना करते थे" (5:110)।
 इसी तरह एक जगह फ़रमाया है कि " أَنَّهُمْ لَا يَرْجِعُونَ ",
 यानि '(जो मर जाते हैं) वो दुबारा लौटकर इस दुनिया में
 नहीं आते' (21:95), या " فَيُنْسِكُ الَّتِي قَضَىٰ عَلَيْهَا الْمَوْتَ " यानि
 "जिस जीव पर अल्लाह मृत्यु ले आता है उसको दुबारा
 इस दुनिया में नहीं भेजता" (39:42)। जबकि कुर्आन शरीफ़
 में ही अन्यत्र कहा है " فَأَمَّا تَأْتِيهِ اللَّهُ مِائَةَ عَامٍ ثُمَّ بَعَثَهُ " यानि "फिर
 अल्लाह ने उस व्यक्ति को सौ साल तक मारे रखा और
 फिर उठा खड़ा किया" (2:259), और कहीं मुर्दों को जिन्दा
 करने का ज़िक्र है, " وَأُخِي الْمَوْتَىٰ " यानि "(हज़रत ईसा)
 मुर्दों को जिन्दा करते थे" (3:49)। स्वयं कुफ़्र के मसले
 ही को लें एक ओर हदीस में फ़रमाया है : " مَنْ قَالَ لَا إِلَهَ إِلَّا اللَّهُ فَقَدْ دَخَلَ الْجَنَّةَ " यानि "जिस व्यक्ति ने (कलमा) ला
 इला.ह इल.ल.लाह पढा समझो वह जन्त में दाखिल हो
 गया"। दूसरी ओर हदीसों में ही आता है : " الْأَتْرَجُوعُوا بَعْدِي " यानि "देखो! कहीं मेरे बाद
 काफ़िर न बन जाना कि एक दूसरे की गर्दनं मारो";
 " إِذْ قَالَ الرَّجُلُ لِلرَّجُلِ أَنْتَ لِي عَدُوٌّ فَقَدْ كَفَرَا حَدَهُمَا بِالْإِسْلَامِ " यानि

“जब एक (मुसलमान) व्यक्ति दूसरे को कहे : तू मेरा दुश्मन है तो समझो उन में से एक ने इस्लाम के साथ कुफ़र किया”; “مَنْ آتَى حَائِضًا فَقَدْ كَفَرَ”, यानि “जो व्यक्ति रजसवला स्त्री के पास जाता है तो उस ने कुफ़र किया”; “أَرَيْتُ النَّارَ فَإِذَا أَكْثَرُ أَهْلِهَا النَّسَاءُ يُكْفَرْنَ”, यानि “मैं ने नरक को देखा तो नरकवासियों में अधिकांश उन औरतों को पाया जो अपने कुफ़र के कारण ही वहां थीं”; “سِبَابُ الْمُسْلِمِ فُسُوقٌ”, यानि “मुसलमान को गाली देना अधर्म है और उसके साथ जंग करना कुफ़र है”; “لَا يُؤْمِنُ أَحَدُكُمْ حَتَّىٰ أَكُونَ”, यानि “तुम में से कोई व्यक्ति उस वक्त तक मुअमिन यानि सच्चा ईमानदार नहीं हो सकता जब तक मैं उसके लिए उस के बाप और उसके बेटे और अन्य सभी लोगों से अधिक प्रिय न हूँ”; “لَا يَزْنِي الزَّانِي وَهُوَ مُؤْمِنٌ وَلَا يَسْرِقُ السَّارِقُ وَهُوَ مُؤْمِنٌ”, यानि “व्यभिचारी व्यभिचार करते समय मुअमिन नहीं होता, चोर चोरी करते समय मुअमिन नहीं होता” इत्यादि इत्यादि। क्या इन हदीसों को विसंगतियां कहना और फिर घबरा कर मुँह फेर लेना उचित होगा? या यह कहना जाइज होगा कि चूंकि हदीसों में विसंगतियां पाई जाती हैं अतः हदीस—साहित्य ही अविश्वसनीय है। या यह विकल्प सही होगा कि बाज़ हदीसों मनसोख हैं और बाज़ ग़ैर—मनसोख? या इन हदीसों का किसी और तरीके से हल ढूंढा जाए गा, जैसा कि हदीसवेताओं ने किया है।

कितने खेद की बात है कि धर्म के मामले में लोग ज़रा सी बात देख कर घबरा जाते हैं, किन्तु सांसारिक मामलों की बड़ी बड़ी जटिलताएं सुझाने के लिए तैयार रहते हैं। इबन असीर ने इस मुश्किल को अपनी किताब *निहाया* में बड़ी दक्षता से हल किया है, वो कहते हैं : “कुफ़र दो प्रकार का है, एक असल ईमान का कुफ़र यानि हज़रत पैग़म्बरश्रीसल्ल के नबी होने से इन्कार और यह बात ईमान के बिल्कुल प्रतिकूल है, और दूसरा इस्लाम की किसी

‘फ़रह’ (अमौलिक अंश) का कुफ़्र (इन्कार), इस से इन्सान असल ईमान यानि इस्लाम के दायरे से बाहर नहीं होता। मतलब यह कि यहां कुफ़्र शब्द को इसके शाब्दिक अर्थ में इस्तेमाल किया गया है इसके मौलिक (पारिभाषिक) अर्थ में नहीं। अज़हरी से किसी ने प्रश्न किया कि फुलां मान्यतानुसार अमुक व्यक्ति काफ़िर है या नहीं, तो उन्होंने ने फ़रमाया : “हां! यह बात कुफ़्र है”। लेकिन जब प्रश्न को बार बार दोहराया गया तो फ़रमाया : “قَدَيْقُولُ الْمُسْلِمُ : “كُفْرًا”, यानि “(अल्लाह के बन्दे!) मुसलमान भी कभी कुफ़्र बोल देता है”।

अब हम वापस हज़रत मसीहे मौऊद की ओर आते हैं, उपरोक्त खुले लिखित इकरारों के रहते—कि मेरे दावे के इन्कार की वजह से कोई व्यक्ति काफ़िर नहीं हो सकता—यह कहना कि उन्होंने ने मुसलमानों को काफ़िर कहा घोर अन्याय है। हज़रत मसीहे मौऊद का निम्न लिखित वाक्य जिस को अकसर पेश किया जाता है, इसको यदि इसके असल संदर्भ में देखा जाए तो साफ़ मालूम होगा कि इस में उसी नियम की व्याख्या है जिसको इबन असीर ने निहाया में डिसकस किया है। ‘हकीकतुल्ल. वह्य’ पृष्ठ 176 पर लिखा है :

“कुफ़्र के दो प्रकार हैं : (1) प्रथम यह कि एक व्यक्ति इस्लाम ही से इन्कार करता है और हज़रत पैग़म्बरश्री^{सल्ल} को अल्लाह का रसूल नहीं मानता; (द्वितीय) दूसरे यह कुफ़्र कि मसीहे मौऊद को नहीं मानता और बावजूद ठोस प्रमाणों के उसको झूठा जाना है, जबकि उसके मानने और सचा जानने की अल्लाह और उस के रसूल ने ताकीद की है, और पूर्ववर्ती नबियों की किताबों में भी ताकीद पाई जाती है। अतः इस दृष्टि से वह अल्लाह और उसके रसूल के आदेश का इन्कारी है, ‘काफ़िर’ है।”

यहां भी पहला यानि वास्तविक कुफ़्र एक ही है, यानि हज़रत पैग़म्बरश्री^{सल्ल} को अल्लाह का रसूल नहीं मानना,

यह बात इन्सान को साक्षात इस्लाम के दायरे से बाहर निकालने वाली चीज़ है। इसी कुफ़्र को इबन असीर ने ईमान का विलोम कहा है क्योंकि यह इस्लाम की बुनियाद का ही इन्कार है। हज़रत साहिब ने यहां कुफ़्र के दूसरे प्रकार की सिर्फ़ एक मिसाल बयान की है, जैसा कि **“मिसाल के तोर पर”** से परिलक्षित है। इस से ज्ञात हुआ कि वह सिर्फ़ धर्म के एक अमौलिक अंश (फ़रअ) का कुफ़्र (इन्कार) है। यह इन्सान को इस्लाम के दायरे बाहर नहीं निकालता। कुफ़्र के इस वर्ग की और भी अनेक शाखाएं हैं। इसी लिये हज़रत साहिब ने इस इबारत के अन्त पर यह फ़रमाया कि इस दृष्टि से **वह अल्लाह और रसूल के आदेश का इन्कारी, यानि काफिर है**। जिस का अर्थ यही है कि वह इस्लाम की मौलिकता यानि अल्लाह और रसूल को मानता है उनका इन्कारी नहीं। हां! अल्लाह और रसूल के जहां और बहुत सारे अमौलिक आदेश हैं उन में का एक आदेश आने वाले मसीह को मानना भी है। और यह व्यक्ति उसको नहीं मानता, अतः यह कुफ़्र मौलिक सिद्धांत का नहीं बल्कि ‘फ़रअ’ का कुफ़्र है। और जिस तरह इबन असीर ने लिखा है कि यह ‘फ़रअ’ का कुफ़्र असल ईमान से खारिज नहीं करता, इसी तरह हज़रत मीसहे मौऊद ने इस व्यक्ति को अल्लाह और रसूल का माननेवाला और सिर्फ़ एक हुक्म का इन्कार करने वाला करार दिया है, और यह इस्लाम का इन्कार नहीं, न इस्लाम के दायरे से बाहर निकालने वाली चीज़ है। तात्पर्य यह कि यहां कुफ़्र शब्द पारिभाषिक अर्थ में नहीं बल्कि अपने शाब्दिक अर्थ में इस्तेमाल हुआ है। इस वर्णनशैली की बहुत सारी मिसालें हदीस साहित्य में उपलब्ध हैं (कुछ उदाहरण ऊपर दर्ज किये जा चुके हैं)। हां! यह सच है कि आगे चल कर हज़रत साहिब ने यह लिखा है कि **“ये दोनों प्रकार के कुफ़्र एक ही किसम (श्रेणी) में शामिल हैं।”** यहां दोनों को एक ही किसम में शामिल किया है, दोनों को एक नहीं कहा, न दोनों को बराबर कहा है। मिसाल के तोर पर अगर कोई यह कहे कि इन्सान और

घोड़ा दोनों एक ही किसम यानि प्राणियों में शामिल हैं, तो इसका कदापि यह अर्थ नहीं कि इन्सान और घोड़ा एक हैं या दोनों बराबर हैं। बस प्राणी या जानदार होने की वजह से दोनों एकसमान हैं, यही हाल मौलिक कुफ़्र और 'फ़रअ' वाले कुफ़्र का है। कुफ़्र के बुनियादी माना 'इनकार' हैं, इस भाव को दृष्टिगत रखा जाए तो कुफ़्र के दोनों प्रकार एक की श्रेणी में आजाते हैं, लेकिन वास्तव दोनों न तो एकसमान हैं और न ही बराबर। और जब खुद अपने कलम से अन्यत्र स्पष्ट कर दिया कि मसीहे मौऊद को न मानने की वजह से कोई काफ़िर नहीं हो सकता, तो अनिवार्यतः यहां काफ़िर शब्द को उसके शाब्दिक अर्थ में ही लेना होगा। यानि इस से मुराद वही 'फ़रअ' वाला कुफ़्र है जिस के लिए हदीस में भी कुफ़्र शब्द ही प्रयुक्त हुआ है, लेकिन इस से मुराद सचमुच इस्लाम के दायरे से बाहर हो जाना नहीं।

इस तथ्य की अधिक पुष्टि आपके अन्य बयानों और लेखों से होती है। किसी ने आप से प्रश्न किया :

“हम अल्लाह और उसके रसूल हज़रत मुहम्मद मुसतफ़ा^{सल्ल} और उसकी किताब कुर्आन शरीफ़ को सच्चे मन से मानते हैं, और नमाज़, रोज़ा आदि अनुष्ठानों का भी विधिवत पालन करते हैं, फिर हमें क्या ज़रूरत है कि आप को भी मानें?”

इसका जवाब यह दिया गया :

“फ़रमाया : देखो! जिस तरह कोई व्यक्ति अल्लाह और उसके रसूल और उसकी किताब पर ईमान लाने का दावा करने के बाद उनके आदेशों जैसे नमाज़, रोज़ा, हज, ज़कात, कर्तव्यपालन (तक़वा) और इबादत आदि को अमल में न लाये, और उन कर्तव्यों को, जो आत्मा की शुद्धि, बुराई के परित्याग और नेकी की प्राप्ति हेतु लागू किये गए हैं, छोड़ दे वह मुसलमान कहलाने का हक़दार नहीं। और न उसे ईमान के ज़ेवर से सुशोभित माना जा सकता है। इसी तरह जो व्यक्ति मसीहे मौऊद को नहीं मानता

या मानने की ज़रूरत नहीं समझता वह भी इस्लाम की वास्तविकता, और नुबूत के औचित्य और रिसालत की ज़रूरत से बेखबर है। और वह इस बात का हकदार नहीं कि उसको सच्चा मुसलमान, अल्लाह और उसके रसूल का सच्चा भक्त एवं आज्ञापालक कह सकें।”

यह 1908 ई. का प्रवचन है। इसी साल हज़रत मसीहे मौऊद का देहांत हुआ था। इस प्रवचन को हकीम मुहम्मद हुसैन कुरैशी ने “हुज्जतुल्लाह” नाम से हज़रत साहिब की वफ़ात से कुछ ही दिन पहले प्रकाशित किया था। इस बयान में इस बात की ओर संकेत है कि बाज़ वक्त नकारने (negation) से मुराद हकीकी इन्कार नहीं होती, बल्कि कमाल का इन्कार होता है। यह वर्णनशैली सभी के यहां मान्य है। इस की मिसालें हदीस साहित्य में भी उपलब्ध हैं, जैसे हज़रत पैग़म्बरश्री^{सल्ल} का यह कथन कि **“जब तक मैं एक व्यक्ति के निकट बाप, बेटे और अन्य सभी लोगों से अधिक प्रिय न हो जाऊँ वह ईमान नहीं लाता।”** इस का मतलब यह नहीं कि जितने मुसलमान दुनिया में इस कसौटी पर पूरे न उतरें वो इस्लाम के दायरे से बाहर हैं। इस हदीस का मतलब केवल इतना ही है कि ऐसे व्यक्ति का ईमान कामिल नहीं। क्योंकि ईमान की संपूर्णता का यही तकाज़ा है धर्म को भौतिकता पर और अल्लाह के रसूल की मुहब्बत को अन्य सभी सांसारिक मुहब्बतों पर वरीयता दी जाए। एक और हदीस में आता है : **“لَا يُؤْمِنُ أَحَدُكُمْ حَتَّىٰ يُحِبَّ لِأَخِيهِمْ مَا يُحِبُّ لِنَفْسِهِ”**, यानि, **“तुम में से कोई व्यक्ति ईमान नहीं लाता जब तक कि वह उस चीज़ को अपने भाई के लिए पसन्द न करे जिसे अपने लिए पसन्द नहीं करता।”** यहां भी वही कमाल वाला इन्कार अभीष्ट है। इस वर्णनशैली की अनेक मिसालें स्वयं हज़रत मसीहे मौऊद की तहरीरों में मिलती हैं, जैसे :

“जो व्यक्ति झूठ और धोखे को नहीं छोड़ता वह मेरी जमात में से नहीं है। जो व्यक्ति सांसारिक लोभ में

फंसा हुआ है और आखिरत की ओर आंख उठा कर भी नहीं देखता वह मेरी जमात में से नहीं है। जो व्यक्ति सच्च में धर्म को दुनिया पर वरीयता नहीं देता वह मेरी जमात में से नहीं है। जो व्यक्ति पूर्णरूपेण बदी से और प्रत्येक पापकर्म से जैसे शराब से, जुआबाजी से, बदनज़री से, खयानत से, रिशवत से और प्रत्येक नाजाइज़ कबज़ा से तौबा नहीं करता वह मेरी जमात में से नहीं है। जो व्यक्ति पांच नमाज़ों का विधिवत पालन नहीं करता वह मेरी जमात में से नहीं है। जो व्यक्ति दुआ में लगा नहीं रहता और विनम्रता से परमात्मा को याद नहीं करता वह मेरी जमात में से नहीं है। जो व्यक्ति बुरे मित्र का साथ नहीं छोड़ता, जो उस पर बुरा असर डालता है वह मेरी जमात में से नहीं है। जो व्यक्ति अपने मां-बाप की इज़ज़त नहीं करता और जाइज़ मामलों में जो कुर्आन शरीफ़ के खिलाफ़ नहीं उनकी बात नहीं मानता, और उनकी सेवा से लापरवा है वह मेरी जमात में से नहीं है। जो व्यक्ति अपनी धर्मपत्नी और उसके रिश्तेदारों से कोमल तथा शिष्टाचारपूर्वक व्यवहार नहीं करता वह मेरी जमात में से नहीं है। जो व्यक्ति अपने पड़ोसी को मामूली मामूली उपकारों से वंचित रखता है वह मेरी जमात में से नहीं है। जो व्यक्ति नहीं चाहता कि अपने कसूरवार का अपराध माफ़ करे और घृणा को बढ़ाने वाला आदमी है वह मेरी जमात में से नहीं है।”

(‘कशती-ए-नूह’, पृ.17)

अब यहां कुछ कार्यों के करने वालों या न करने वालों को यों कह दिया कि **“वह मेरी जमात में से नहीं।”** तक्फ़ीर में विश्वास रखने वाले (कादियानी अहमदियों) के निकट जो व्यक्ति अहमदिया जमात में से नहीं है वह मुसलमान भी नहीं है बल्कि इस्लाम के दायरे से ही बाहर है। अब विचार करो कि क्या व्यभिचार, चोरी या किसी और गुनाह का भागी सचमुच जमाते अहमदिया और उसके

साथ साथ इस्लाम के दायरे से बाहर हो जाता है। एक व्यक्ति जो शराबखोरी या जुआबाजी का भागी बन जाए या जो बदनज़री करे या रिशवत ले ले, क्या वह इस्लाम के दायरे से बाहर हो जाता है? एक व्यक्ति जो पांच नमाज़ों को विधिवत अदा नहीं कर पाता या उस से कोई नमाज़ रह जाए, क्या वह दायरे इस्लाम से बाहर हो जाता है? एक व्यक्ति जो हर वक्त दुआ में लगा नहीं रहता, क्या वह दायरा इस्लाम में दाखिल नहीं रहता? या जिस से मां-बाप की कोई नाफ़रमानी हो जाए, क्या वह काफ़िर हो जाता है? और सब से बढ़कर यह कि एक व्यक्ति अगर अपनी पत्नी के रिश्तेदारों में से किसी के साथ नर्मी से पेश न आये और शिष्टाचारपूर्वक व्यवहार न करे, तो क्या वह भी *मुरतद* और इस्लाम के दायरे से बाहर हो जाता है? इन सब कथनों में सिवाये 'नफी-ए-कमाल' यानि कमाल की (negation) के और कुछ माना नहीं लिए जा सकते। इन तमाम वाक्यों का सिर्फ़ एक ही भाव है वह यह कि ऐसा व्यक्ति कामिल रूप से अहमदी नहीं है। हालांकि सब से अजीब बात यह है कि उपरोक्त वाक्यों के अन्त पर ये शब्द आते हैं कि जो व्यक्ति मुझे मसीह और महदी नहीं मानता वह मेरी जमात में से नहीं है। इस वाक्य में वास्तविक इनकार ही अभीष्ट है। जबकि पहले वाक्यों में वास्तविक इनकार मुराद नहीं हो सकती। भले ही संदर्भ को दृष्टिगत रखते हुए मसीह और महदी वाले वाक्य का यह भाव भी प्रयोज्य हो सकता। अब इन उपरोक्त वाक्यों की रोशनी में इस वाक्य को पढ़ो जो किसी पत्र में हज़रत साहिब के कलम से निकला है, और जिस को तोड़मरोड़ कर कुछ से कुछ बना दिया गया है :

“बहर हाल जब कि खुदा तआला ने मुझ पर ज़ाहिर किया है कि प्रत्येक व्यक्ति जिस को मेरी दावत पहुंची है और उस ने मुझे क़बूल नहीं किया वह मुसलमान नहीं है और अल्लाह के निकट दंड का अधिकारी है तो यह क्योंकर हो सकता है कि अब मैं

एक व्यक्ति के कहने से जिस का दिल हज़ारों अंधकारों में ग्रस्त है खुदा के हुक्म को छोड़ दूँ.....वह लोग जो मेरी दावत को रद्द करने के वक्त कुर्आन शरीफ़ के स्पष्ट आदेशों को छोड़ते हैं और खुदा तआला के निशानों से मुँह फेरते हैं इनको धर्मपरायण करार देना उसी व्यक्ति का काम है जिस का दिल शैतान के पंजे में फंसा हुआ है।”

इस अनुच्छेद में भी **“मुसलमान नहीं है”** के दो ही विकल्प हैं। या तो मुराद वही **‘नफी ए कमाल’** है, जिस की मिसालें अभी मैं ने हदीस और स्वयं हज़रत साहिब की तहरीर से दी हैं। या फिर यहां **‘नफी ए हकीकत’** है। मैं कहता हूँ कि कोई भी व्यक्ति जो ज़रा भी चिन्तन मनन से काम ले फ़ौरन जान सकता है कि यहां अभिप्रेत सिर्फ़ **‘नफी ए कमाल’** है, क्योंकि ऐसे व्यक्ति का इस्लाम से बाहिर होना स्वयं इस पत्र लिखने वाले को ही तस्लीम नहीं। उसकी प्रकाशित धारणा, और उसका छपा हुआ वह बयान अभी मैं नक़ल कर चुका हूँ जिस में यही प्रश्न पूछा गया है कि **“आप को न मानें तो क्या हरज है?”** जिस का जवाब यह दिया कि जिस तरह खुदा और रसूल के और अनेक हुक्म हैं जैसे नमाज़, रोज़ा उन में से किसी का परित्याग करने वाला कामिल या संपूर्ण मुसलमान या धर्मपरायण नहीं कहला सकता, उसी तरह मेरा मानना भी खुदा के रसूल का एक हुक्म है। लेकिन सिर्फ़ अन्य तहरीरों से ही हम इस निष्कर्ष पर नहीं पहुंचते बल्कि विचाराधीन पत्र के अन्तिम वाक्य भी पहले वाक्यों की व्याख्या कर देते हैं। अन्त पर साफ़ कह दिया कि उनको मैं **“धर्मपरायण”** करार नहीं दे सकता। पहले वाक्यों में भी **“मुसलमान नहीं है”** के बाद ये शब्द आये हैं **“परमात्मा के निकट दंडणीय है”** जो इसी तथ्य की ओर इशारा करते हैं। जो बात हम **‘हुज्जतुल्लाह’** नामक तहरीर से नक़ल कर चुके हैं वही बात यहां मौजूद है कि **अल्लाह और उसके रसूल का सच्चा अज्ञाकारी नहीं।** इस में क्या संदेह है कि जो लोग अल्लाह तआला की ओर से युग

सुधारक बन कर आते हैं उनको रद्द करना, उनका विरोध करना धर्मपरायणता नहीं। जिस महा पुरुष को अल्लाह तआला इस्लाम केलिये संकटमोचन बनाकर नियुक्त करता है वह इस्लामी सिद्धांतों से लेशमात्र इधर उधर होने की शिक्षा नहीं देता, बल्कि मुसलमानों को इस्लाम के दुश्मनों के विरुद्ध एक मार्ग दिखाता है। वह कोई अपनी जायदाद नहीं बनाता, हालांकि आम तौर पर ज़ियारतों के सज्जादा नशीन मुरीदों के पैसों से अपनी ज़ाती जायदादें भी बनाते हैं। जबकि अल्लाह का भेजा हुआ बन्दा अगर चन्दा की प्रणना देता है तो सिर्फ़ इस्लाम के प्रचार व प्रसार के लिए। और चन्दे आदि के पैसों की व्यवस्था स्वयं चन्दा देने वालों के हाथ में सौंप देता है। उसके दिल में इस्लाम के प्रति अघात गैरत पाई जाती है। लोग उसको गालियां देते हैं तो वह उनको उपेक्षित कर देता है। लेकिन यदि हज़रत पैगम्बरश्री मुहम्मद^{सल्ल} के विरुद्ध अपमान का एक शब्द भी देख ले तो उसे बरदाशत नहीं कर पाता। इस्लाम धर्म का प्रेम उसके दिल में ज्वाला बन कर धधक रहा होता है, उसी प्रेम की चिंगारी वह हज़ारों दिलों में डाल देता है। धर्मप्रायणता और सदाचार का तकाज़ा यही था कि यदि उसके बाज़ दावे समझ नहीं भी आते तब भी उसकी मुखालफ़त न की जाए। इस्लाम-सेवा का जो पावन आंदोलन उस ने शुरू किया है उस में रोड़े न अटकाये जाएं। बल्कि इस मामले में ख़ामोशी इख़्तियार की जाए, और उसके दावों को गंभीरता और विवेकपूर्वक कुर्आन और हदीस की कसौटी पर परखा जाये, और इनको समझने की कोशिश की जाए। हुसने जुन से काम लिया जाये और उसको अपना काम, जो इस्लाम की सेवा और दुश्मनों के हमलों के प्रति संरक्षण के अलावा और कुछ नहीं, करने दिया जाए। लोगों को उसके पास जाने से न रोका जाए। यही वह न्यायोचित नीति थी जो चाचड़ों शरीफ़ के महान सन्त हज़रत गुलाम फ़रीद साहिब ने अपनाई। अतः यह बात किसी भी तरह न्यायोचित एवं धर्मसंगत नहीं हो सकती कि ऐसे महा पुरुष का विरोध

किया जाये जब वह इस्लाम के सिद्धांतों के खिलाफ कोई शिक्षा नहीं देता और लोगों को सिर्फ इस्लाम की सेवा के लिए बुलाता है।

यहां एक और बात अधिक विचारणीय है। यदि हजरत मिर्जा साहिब का सचमुच यह विश्वास होता कि उनको न मानने वाले काफिर हैं, तो स्वयं अपनी तहरीरों में इसके प्रकूल मत क्यों प्रकाशित करते? क्या इस काम केलिये एक निजी ख़त को अपनी मान्यताओं के ज्ञापन केलिये इस्तेमाल किया जा सकता था, और ख़त भी एक ऐसे व्यक्ति के नाम जो पहले मुरीदों में से था, लेकिन अब विरोधी पक्ष में शामिल हो कर मुख़ालफ़त कर रहा है। जिन किताबों को जमात की शिक्षा हेतु रात दिन रचता रहता है, उन में साफ़ साफ़ यह लिख देता है कि मेरे दावे के इन्कार की वजह से कोई व्यक्ति काफ़िर नहीं हो सकता। हां! जिन मुसलमानों ने कुफ़्र का फ़तवा लगाया तो हदीस के मुताबिक़ वह कुफ़्र उन पर उलट कर पड़ा। क्या यह मुम्किन है कि एक ख़त में, जो एक मुख़ालिफ़ के नाम है, इसके प्रतिकूल लिखा जाता? और यदि अबदुल हकीम ख़ाँ इस निजी पत्र को प्रकाशित न करता तो दुनिया वालों पर यह मान्यता छिपी ही रहती, और तो और स्वयं मिर्जा साहिब के मुरीद भी इस मान्यता से बेख़बर ही रहते। मान लो अबदुल हकीम ख़ाँ यह नीति न अपनाता तो भी यह मान्यता सदासर्वदा के लिए गुप्त ही रह जाती। आश्चर्य है कि एक व्यक्ति 80 किताबें लिखता है और रात दिन लेखन कार्य में ही लगा रहता है, और इन्ही लेखों द्वारा वह जमात को शिक्षा देता है, किन्तु अपने लेखों में कुछ और लिखता है, और एक मुख़ालिफ़ के नाम एक ख़त में इन सब तहरीरों को मलयामेट कर देता है। जो लोग बुद्धि और चिन्तन से काम ले सकते हैं उनके लिए यह अधिक विचार का अवसर है। प्रथमतः एक निजी ख़त के किसी संदिग्ध भाव को लेखक की अनेक स्पष्ट तहरीरों और खुली शिक्षाओं के प्रकाश में ही जांचना होगा। द्वितीय इसी ख़त में ऐसे

शब्द मौजूद हैं जो लिखने वाले के उद्देश्य या मनत्वय को साफ़ ज़ाहिर करते हैं। लेखक का उद्देश्य दावे को नकारने वाले को इस्लाम के दायरे से बाहर निकाल देना नहीं, बल्कि यह समझाना है कि इन्कार की यह नीति धर्मपरायणता नहीं। त्रितीय अबुल हकीम के नाम पत्रों में ही एक पत्र ऐसा भी है जिस में यह वाक्य मौजूद है कि जिन मान्यताओं को तुम अभिव्यक्त कर रहे हो उनके अनुसार तुम न सिर्फ़ अहमदियत से ही विलग हो जाते हो बल्कि इस्लाम से भी विमुख हो रहे हो। वाक्य के असल शब्द ये हैं :

“इस ख़त से सिर्फ़ यही मालूम नहीं होता कि आप हमारे सिल्सिला (पंथ) से ख़ारिज हैं बल्कि यह भी कि आप इस्लाम से भी मुँह फेर रहे हैं।”

साफ़ ज़ाहिर है कि ख़त लिखने वाले के निकट अहमदियत से निकलना और इस्लाम से निकलना **एकसमान नहीं।** सब से महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि *‘तर्याकुल-कुलूब’* के ये शब्द कि — **‘मेरे दावे के इन्कार की वजह से कोई व्यक्ति काफ़िर नहीं हो सकता’**—कभी मनसूख़ भी हो गए? मियां साहिब और उनके अनुयायी इन शब्दों को मनसूख़ करार देते हैं, क्योंकि ऐसा किए बिना वो हज़रत मसीह मौऊद के न मानने वाले मुसलमानों को काफ़िर नहीं बना सकते। लेकिन इन शब्दों को मनसूख़ ठहराना उनके लिए कई कारणों से असंभव है। मियां साहिब ने पहले यह लिखा कि मनसूख़ी की तारीख़ 25 अक्टूबर 1902 ई. है। और यही तिथि *‘तर्याकुल-कुलूब’* के प्रकाशन की है:

“अर्थात् उपरोक्त हवाला से साफ़ साबित है कि *‘तर्याकुल-कुलूब’* के प्रकाशन तक (जो कि अगस्त 1899 ई. से शुरू हुई और 25 अक्टूबर 1902 ई. में समाप्त हुई) आप की मान्यता यही थी कि आप को हज़रत मसीह पर आंशिक प्रधानता हासिल है.....अतः 1902 ई. से पहले की किसी तहरीर से हुज्जत पकड़ना बिल्कुल जाइज़ नहीं हो सकता।”

(*अल्.कौलुल.फ़सल*, 24)

1902 ई. की सीमा निर्धारित कर देने के बावजूद मियां साहिब ने खुद 1901 ई. के एक लेख को नुबूवत के मसले में पुष्टि केलिये प्रस्तुत किया था। जब उनका ध्यान इस विसंगति की ओर आकर्षित कराया गया, तो उन्होंने ने अपनी दूसरी किताब 'हकीकतुन-नुबूवत' में झट यह तारीख बदल दी, और कहा कि मन्सूखी संबंधी तारीख नवंबर 1901 ई. है। अतः इस से पहले की तहरीरों को प्रमाण हेतु पेश करना ग़लत है। आश्चर्य की बात है कि इतनी महत्वपूर्ण तिथि को पहले 25 अक्टूबर 1902 करार दिया गया, और प्रकाशित भी किया गया, लेकिन थोड़े ही दिनों बाद जब आपत्ति हुई तो इसे झट बदल कर नवंबर 1901 ई. कर दिया गया।

अब अगर मन्सूखी की तारीख नवंबर 1901 ई. मानी जाए तो साफ़ ज़ाहिर है कि हज़रत मसीहे मौऊद ने 'तर्याकुल-कुलूब' वाला विचाराधीन वाक्य इस से पहले लिखा तो हो गा लेकिन प्रकाशित नहीं किया होगा। इसी बीच बकौल मियां साहिब हज़रत मसीहे मौऊद की मान्यता बदल गई और पहली सारी तहरीरें व्यर्थ हो गईं। यानि वो सब तहरीरें जिन से नुबूवत या कुफ़ की समस्याओं पर प्रकाश पड़ता था वो सब ग़लत हो गईं। अब सवाल यह उठा है कि आया इस अद्भुत परिवर्तन का एहसास स्वयं हज़रत मसीहे मौऊद को भी था या नहीं? यानि इस अंतराल में मेरी मान्यता बदल चुकी है अतः अब वो पहले वाली तहरीरें प्रकाशन योग्य नहीं रहीं।

इतना ही नहीं बल्कि अपने दावे के विषय में जो कुछ 'तर्याकुल-कुलूब' में लिखा है उसे अपनी अन्तिम किताब 'हकीकतुल-वह्य' (जो 1906-1907 ई. में लिखी गई) में साफ़ शब्दों में ग़ैर-मन्सूख करार दिया है :

“118वां निशान : एक बार मैं एक फ़ौजदारी मुक़दमा के सिल्लिसले में गुरुदासपुर में था, यह मुक़दमा करम दीन देहलवी ने मुझ पर किया था। उसी दौरान इलहाम हुआ :

“यानि तेरी शान के बारे में पूछेंगे कि तेरी क्या शान और क्या दरजा है, कह वह परमात्मा है जिस ने मुझे यह सम्मान प्रदान किया है, फिर इन को इनकी मोजमस्ती में छोड़ दे।”

मैं ने यह इलहाम अपनी उस जमात को जो गरुदासपुर में मेरे साथ थी, जो चालीस आदमियों से कम नहीं होंगे, सुना दिया, जिन में मौलवी मुहम्मद अली साहिब एम.ए. और ख्वाजा कमाल उद्दीन साहिब बी.ए. पलीडर भी थे। तदुपरांत जब हम कचहरी में गए तो विपक्ष के वकील ने मुझ से यही सवाल किया कि आप की शान और आपका दरजा वैसा ही है जैसा ‘तर्याकुल-कुलूब’ में लिखा है? मैं ने जवाब दिया कि हां! अल्लाह के अनुग्रह से यही दरजा है।”

अब दो बातें कतई तोर पर साबित हो गयीं : एक यह कि ‘तर्याकुल-कुलूब’ में हज़रत साहिब ने लिखा है कि आप के दावे के इन्कार से कोई व्यक्ति काफिर नहीं बन जाता। दूसरे यह कि हज़रत साहिब ने अपने अन्तिम दिनों में अदालत में और उसके बाद अपनी लगभग अन्तिम किताब में यह माना है कि ‘तर्याकुल-कुलूब’ में जो कुछ अपने बारे में लिख चुके हैं वो सब सही है। इस लिए यदि किसी और जगह इस अटल तथ्य के खिलाफ कुछ नज़र आये तो इसे उसी मोहकम संबंधी नियम के अधीन रखना होगा। आइये अब हम हज़रत साहिब की निम्नलिखित तहरीर पर विचार करें :

“आली हज़ूर ने हज़ारों जगह लिखा है कि **कलमा गो** (कलमा ‘*ला इला.ह इल्लल्लाहु मुहम्मदुर रसूलुल्लाह*’ पढ़ने वाला) और **अहले किबला** (मुसलमानों के किबला की ओर मुंह करके नमाज़ पढ़ने वाला) को काफिर कहना किसी तरह सही नहीं है। इस से साफ़ ज़ाहिर है कि उन मुसलमानों को छोड़ जो आप को काफ़र कहने की वजह से स्वयं काफ़िर बन जाएं, कोई भी व्यक्ति सिर्फ़ आप को न मानने की वजह से काफ़ि

नहीं हो सकता। लेकिन अबदुल हकीम को आप लिखते हैं कि हर वह व्यक्ति जिसको मेरी दावत पहुंची है और उस ने मुझे कबूल नहीं किया वह मुसलमान नहीं है। इस बयान में और पहली किताबों के बयान में विसंगति है। यानि पहले आप 'तर्याकुल-कुलूब' आदि में लिख चुके हैं कि मेरे न मानने से कोई काफिर नहीं होता और अब आप लिखते हैं कि मेरे इन्कार से काफिर हो जाता है।"

(*हकीकतुल-वहा*, पृ. 163)

इस सवाल से मालूम हुआ कि प्रश्नकर्ता को हज़रत साहिब की हज़ारों तहरीरों (जिन में 'तर्याकुल-कुलूब' भी शामिल है) और अबदुल हकीम वाले ख़त में विसंगति नज़र आई, इस लिए उस ने स्वयं हज़रत मसीहे मौऊद से सवाल किया कि इस प्रत्यक्ष अन्तरविरोध को किस तरह हल किया जाए? अब इसका जवाब कई तरह पर हो सकता था। एक यह कि अगर हज़रत साहिब के निकट 'तर्याकुल-कुलूब' और पहली हज़ारों तहरीरें मन्सोख थीं तो साफ़ कह देते कि भाई 1901 ई. में पहली सारा तहरीरें मन्सोख हो गईं, क्योंकि उसी साल हम ने अपनी पुरानी मान्यता बदली है। दूसरा जवाब यह हो सकता था कि हमारे दोनों बयानों में अवश्य विसंगति है और उस के ये ये कारण हैं। तीसरा जवाब यह हो सकता था कि दोनों बयानों में कोई विसंगति नहीं आपतिकर्ता ने चिन्तनमनन से काम नहीं लिया है। आइये देखें कि इन तीनों विकल्पों में से हज़रत साहिब ने कौन सा विकल्प जावब देते समय ग्रहरण किया है, फरमाते हैं :

“यह अजीब बात है कि आप काफिर कहने वाले और न मानने वाले को दो प्रकार के इन्सान ठहराते हैं। हालांकि खुदा के निकट एक ही प्रकार है। क्योंकि जो व्यक्ति मुझे नहीं मानता वह इसी वजह से नहीं मानता कि वह मुझे 'मुफ़्तरी' (झूठा दावा करनेवाला) करार देता है। जबकि अल्लाह फरमाता है कि 'इफ़तरा' करने वाला (यानि अल्लाह पर झूठ बांधने

वाला) सब काफ़िरों से बढ़ कर काफ़िर है, जैसा कि फ़रमाया है :

فَمَنْ أَظْلَمُ مِمَّنِ افْتَرَى عَلَى اللَّهِ كَذِبًا أَوْ كَذَّبَ بِآيَاتِهِ --- أَنَّهُمْ كَانُوا كَافِرِينَ (7:37), "यानि बड़े काफ़िर दो ही हैं एक खुदा पर इफ़तरा करने वाला और दूसरा खुदा के सन्देश को झुठलाने वाला। अतः जबकि मुझे झुठलाने वाले के निकट मैं ने खुदा पर इफ़तरा किया है, उस सूरत में मैं न सिर्फ़ काफ़िर बल्कि महा काफ़िर हुआ। और अगर मैं मुफ़्तरी नहीं तो निश्चय ही वह कुफ़र उस पर उलट कर पड़े गा जैसा कि इस आयत में अल्लाह ने खुद फ़रमाया है।"

अब जो व्यक्ति खुदा और रसूल^{सल्ल} के बयान को नहीं मानता, और कुरआन शरीफ़ को झुठलाता है, और जान बूझ कर अल्लाह तआला के निशानों को रद्द करता है, और मुझ को बावजूद सैंकड़ों निशानों के मुफ़्तरी ठहराता है तो वह सच्चा मोमिन (ईमानवाला) किस तरह हो सकता है? और अगी वह मोमिन है तो मैं इफ़तरा के कारण काफ़िर ठहरा। क्योंकि मैं उनकी नज़र में मुफ़्तरी हूँ।

फिर वो लोग किस तरह मोमिन हो सकते हैं जो खुले तोर पर खुदा के वाक्य को झुठलाते हैं, और खुदा तआला के हजारों निशान देख कर, जो ज़मीन व आसमान में प्रकट हुए, फिर भी मुझे झुठलाने से बाज़ नहीं आते। वो स्वयं इस बात का इफ़रार करते हैं कि अगर मैं मुफ़्तरी नहीं बल्कि मोमिन हूँ तो उस सूरत में वो मुझे झुठलाने और काफ़िर ठहराने की वजह से काफ़िर बन जाते हैं, और मुझे काफ़िर कह कर अपने कुफ़र पर स्वयं मोहर लगा देते हैं। यह एक शरयी (धर्मविहित) मसला है कि मोमिन को काफ़र कहने वाला अन्ततः खुद काफ़िर हो जाता है।"

इस इबारत के साथ दो फुटनोट हैं। एक फुटनोट के ये शब्द हैं :

“इस जगह ज़ालिम शब्द से मुराद काफ़िर है, इस पर संदर्भ यह है कि मुफ़्तरी के मुक़ाबिल पर अल्लाह की किताब को झुठलाने वाले को ज़ालिम घोषित किया गया है। निस्संदेह वह व्यक्ति जो अल्लाह ताअला के वाक्य को झुठलाता है काफ़िर है। अतः जो मुझे नहीं मानता वह मुझे मुफ़्तरी करार देकर मुझे काफ़िर ठहराता है इस लिए मेरी **‘तकफ़ीर’** की वजह से स्वयं काफ़िर बनता है।”

और दूसरे फुटनोट के अन्त पर ये शब्द आये हैं :

“अतः मैं अब भी **अहले क़िबला** को काफ़िर नहीं कहता, लेकिन जिन में खुद उनके हाथ से कुफ़्र की वजह पैदा हो गई हो उनको किस तरह मोमिन कह सकता हूँ?”

हम ने ऊपर जो तीन विकल्प सुझाये थे, यानि या तो एक तहरीर को मन्सोख करार दिया जाए, या विसंगति स्वीकार करके कोई व्याख्या की जाए, या दोनों तहरीरों में संगति यानि मेल बिठाया जाए। ऊपर के जवाब से साफ़ ज़ाहिर है कि हज़रत मसीह मौऊद ने पहले और दूसरे विकल्प को ग्रहण नहीं किया, बल्कि दोनों तहरीरों में मेल बिठाया है। यानि अबदुल हकीम खां के ख़त और **‘तरयाकुल कुलूब’** वाली तहरीर और अन्य पहली तहरीरों में सामन्जस्य बिठाया है। हज़रत साहिब के जवाब से इस बात का फ़ैसला भी हो जाता है कि **‘तरयाकुल कुलूब’** वाली तहरीर और पहली तहरीरों को हज़रत साहिब ने कभी मन्सोख नहीं ठहराया, बल्कि यहां भी साफ़ शब्दों में इसके मन्सोख होने को नकारा है। अतएव इस एलान को कि—“मेरे दावे के इन्कार की वजह से कोई व्यक्ति काफ़िर नहीं हो सकता” —जीवन के आख़िर तक

गैर—मन्सूख करार दिया है⁶। इस लिए दोनों तहरीरों में मेल बिठाना हमारा परम कर्तव्य है।

अब मेल दो तरह से बिठाया जा सकता है। एक यह कि पिछली तहरीरों को असल यानि मूलाधार मान कर पहली तमाम तहरीरों की वो व्याख्या की जाए जो दूसरी तहरीर का प्रत्यक्ष भाव है। और दूसरे इस तरह कि पहली “हजारों” तहरीरों को मूलाधार करार दे कर पिछली तहरीर की वो व्याख्या की जाये जो इसको पहली तहरीरों के प्रत्यक्ष भाव के अनुरूप कर दे। इस से पहले कि हम किसी एक पक्ष को अपना कर असल नतीजे तक पहुंचें ‘तरयाकुल-कुलूब’ वाले अनुच्छेद को ज़रा विस्तार से नक़ल कर देना ज़रूरी है :

“ज़ला मजिस्ट्रेट गुरुदासपुर ने अपने हुक्म दिनांक 24 फ़रवरी 1899 ई. में मुहम्मद हुसैन से इस इकरार पर दस्तख़त कराये कि वह भविष्य में मुझे दज्जाल, काफ़िर और झूठा नहीं कहे गा.....अब देखो कि इस इकरार के बाद उसका वह ‘इस्तफ़ता’ कहा गया

⁶ इस तहरीर के कतई तोर पर गैर—मन्सूख हाने से न सिर्फ़ तक्फ़ीर का मसला हल होजाता है, बल्कि नुबूवत वाले मसले का भी फ़ेसला हो जाता है। वह इस तरह कि ‘तरयाक अल-कुलूब’ में यह उसूल कायम किया है, और बड़े साफ़ शब्दों में कायम किया है, कि चूंकि मैं नबी नहीं इसलिये मेरा इन्कार करनेवाला काफ़िर नहीं। तो जब यह तहरीर गैर—मन्सूख है तो नुबूवत के इन्कार वाला मामला आप से आप गैर—मन्सूख होगया। ‘हकीकतु-लवह्य’ पृ. 165 के मुताबिक ‘तरयाकुल-कुलूब’ की तहरीर गैर—मन्सूख करार पाती है, यह बात मियां साहिब की सारी ‘हकीकत अल-नुबूवत’ को जला कर राख कर देती है। बिल्कुल वैसे ही जिस तरह दिया सिलाई की एक तीली घास के एक ढेर को भसम कर डालती है। क्योंकि इस तहरीर के मुताबिक हज़रत मिर्जा साहिब का शुमार उन लोगों में हुआ जिनका ज़िक्र इन शब्दों में किया गया है : “शरीअत वाले नबी के अलावा जितने भी मुलहम (अल्लाह का इलहाम पाने वाले) और मुहददस (अल्लाह से बातचीत करने वाले) हैं, चाहे वो अल्लाह के हज़ूर कितनी ही बुलंद शान क्यों न रखते हों और अल्लाह के संभाषण रूपी वरदान से सुशोभित हों”। इसी तहरीर से यह भी साबित होता है कि जो कहीं हज़रत साहिब ने अपने लिये यों कह दिया कि मेरी नुबूवत वह है जो तशरीअयी नहीं (यानि शरीअत वाली नहीं) तो वास्तव में वहां इन्ही शब्दों की ओर संकेत है, यानि वह नुबूवत जो ‘मुहददसियत’ के नाम से जानी जाती है या अपने शाब्दिक या आलंकारिक अर्थ में नुबूवत कहला सकती है, अपने पारिभाषिक अर्थ में कदापि नहीं।

जिस को तैयार करने के लिए उसे बनारस तक सफ़र करना पड़ा था। अगर वह इस फ़तवे के मामले में सत्य पर होता तो उसको हाकिम के सामने यह जवाब देना चाहिए था कि मेरे निकट यह निश्चय ही काफ़िर है। इस लिए मैं इसको काफ़िर कहता हूँ..... विशेषकर जब मैं अल्लाह की कृपा से अब तक और ज़िन्दगी के अन्त तक उन्हीं अकायद (मान्यताओं) पर कायम हूँ जिन को मुहम्मद हुसैन ने कुफ़र करार दिया है, तो फिर यह किस किसम की ईमानदारी है कि उस ने हाकिम के डर से अपने तमाम फ़तवों को स्वयं विनष्ट कर दिया.....और इस से ज़्यादा अपमान और क्या होगा कि इस व्यक्ति ने अपनी इमारत को स्वयं अपने हाथों से गिराया.....हां! यह सच है कि इस नोटिस पर मैं ने भी दस्तख़त किये हैं। लेकिन मेरे इस दस्तख़त के कारण न्यायपरायण लोग मुझ पर कोई दोष नहीं लगा सकते, और न यह दस्तख़त मेरे अपमान का कारण बन सकते हैं। क्योंकि शुरू दिन से मेरी मान्यता यही है कि मेरे दावे के इन्कार की वजह से कोई व्यक्ति काफ़र या दज्जाल नहीं हो सकता।”

अधिक व्याख्या के लिए नीचे यह फ़ुटनोट भी दिया गया है:

“यह नुकता याद रखने लायक है कि अपने दावे का इनकार करने वाले को काफ़िर कहना सिर्फ़ उन नबियों की शान है जो खुदा ताला की ओर से शरीयत (धर्मविधान) और नवीन आदेश लाते हैं। लेकिन शरीयत वाले नबियों के सिवा जितने *मुल्हम* और *मुहद्दस* हैं, चाहे परमात्मा के यहां उनकी कैसी ही उच्च शान क्यों न हो या ईश्वरीय वार्तालाप का उन्हें सौभाग्य प्राप्त हो। उनके इनकार से कोई व्यक्ति काफ़िर नहीं बन जाता।”

अब इस तहरीर से निम्न लिखित तथ्य साफ़ साफ़ सामने आते हैं :

(क) हज़रत मसीहे मौऊद के इनकार की वजह से कोई व्यक्ति काफ़िर नहीं हो सकता,
 (ख) जो व्यक्ति हज़रत मसीहे मौऊद को काफ़िर या दज्जाल नहीं कहता हज़रत साहिब भी उसको काफ़िर नहीं कहते।

'हकीकतुल.वह्य' की इबारत से प्रत्यक्षतः यह ज़ाहिर होता है कि जो व्यक्ति आप को नहीं मानता वह आप को काफ़िर करार देता है, इस लिए काफ़िर है। जबकि 'तरयाकुल.कुलूब' में यही लिखा है कि जो मेरा इनकार करता है वह काफ़िर नहीं है, काफ़िर वही है जो मुझे काफ़िर या दज्जाल या झूठा कहता है। और 'हकीकतुल.वह्य' में लिखा है कि जो मुझे नहीं मानता वह मुझे काफ़िर कहता है और इसतरह स्वयं कफ़िर बनता है। और साथ ही यह भी लिखा कि इन दोनों तहरीरों में कोई विसंगति नहीं, दोनों का मतलब एक ही है।

मैं ने ऊपर लिखा था कि इस बहस में दो ही विकल्प हैं : (क) 'तरयाकुल.कुलूब' की स्पष्ट तहरीर को असल यानि मूलाधार मान कर 'हकीकतुल.वह्य' की तहरीर का 'तावील' द्वारा मेल बिठाया जाए, या (ख) 'हकीकतुल.वह्य' की तहरीर को असल यानि मूलाधार मान कर 'तरयाकुल.कुलूब' और पहली अनेक तहरीरों का तावील द्वारा मेल बिठाया जाए। इन दोनों विकल्पों में से कौन सा विकल्प प्रयोज्य हो सकता है? इस संबंध में पहले तो यह बात याद रखनी चाहिए कि 'तरयाकुल.कुलूब' के पक्ष में "हज़ारों" खुली और सुस्पष्ट तहरीरें हैं, जबकि 'हकीकतुल.वह्य' वाली संदिग्ध तहरीर अकेली है। ऐसी परिस्थिति में असल या मूलाधार उन्हीं को माना जाए गा जो संख्या में ज़्यादा होने के साथ साथ सुस्पष्ट भी हैं।⁷ ऐसा करने की एक वजह और भी है, वह यह कि हज़रत साहिब ने स्वयं एक स्थायी नियम प्रतिपादित कर दिया

⁷ यह उसूल भी हज़रत मिर्जा साहिब ने कायम किया है, कि जब भी किसी मामले में मतभेद नज़र आये तो बहुसंख्या को मोहकम (निर्णायक) करार देकर अल्पसंख्या के इसके अधीन कर दो।

है कि **“मेरे दावे के इनकार की वजह से कोई व्यक्ति काफ़िर या दज्जाल नहीं हो सकता”**, और साथ ही यह दलील भी दी है कि **“अपने दावे के इन्कार करने वाले को काफ़िर कहना सिर्फ़ उन नबियों की शान (और अधिकार) है जो खुदा ताला की ओर से शरीयत (धर्मविधान) और नवीन धर्मादेश ले कर आते हैं।”** और जब तक यह वजह तोड़ कर न दिखाई न जाए उस वक्त तक यह स्थायी नियम कायम और प्रयोज्य रहेगा। हज़रत साहिब ने कहीं भी इस नियम का निराकरण नहीं किया है। *‘हकीकतुल.वह्य’* में जो कुछ लिखा है उसका स्वयं स्पष्टीकरण कर दिया है : **“जो व्यक्ति मुझे नहीं मानता वह इसी वजह से नहीं मानता कि वह मुझे मुफ़्तरी करार देता है।”** सो जिस वाक्य की हज़रत मसीह मौऊद ने व्यख्या की है उसी को *मोहकम* (निर्णायक) और सुस्पष्ट नियम के अधीन रखना पड़ेगा। इसके विरुद्ध जाना सही न होगा। यहां यह भी याद रखना चाहिये कि जब एक बार नहीं बीसियों बार यह एलान साफ़ शब्दों में हो गया कि सिर्फ़ आप को काफ़िर कहने वाला ही काफ़िर है, और यह एलान भी ऐसे ही साफ़ और स्पष्ट शब्दों में मौजूद है कि **“चूंकि मैं नबी नहीं इसलिये मुझ को नकारने वाला भी काफ़िर नहीं”**, तो अब इस से पीछे नहीं हट सकते जब तक कि यह न कहें कि चूंकि मैं नबी हूँ इस लिये मुझे नकारने वाला काफ़िर है, और चूंकि यह शब्द हज़रत मसीहे मौऊद की किसी तहरीर, भाषण या पत्र में नहीं हैं, इस लिये इस पहले वाले खुले एलान को किसी अन्य तहरीर से रद्द या उसके अधीन नहीं किया जा सकता।

तीसरी और बड़ी भारी वजह, *‘तरयाकुल.कुलूब’* की तहरीर को एक मौलिक सिद्धांत मान अन्य तहरीरों को उसके अधीन करने की, यह है कि यह स्वयं में और उसके बाद की वो तहरीरें और भाषण जो आपके कलम और जुबान से निकले हैं, जिन में बार बार *‘तरयाकुल.कुलूब’* वाले मौलिक सिद्धांत को दोहराया गया है, और बड़े बड़े मुकाबले के वक्त में भी

इस उसूल को नहीं छोड़ा। नमूना के तोर हम 'हकीकतुल. वह्य' के पृष्ठ 120 के शब्द पीछे नकल कर चुके हैं, वहीं यह भी लिखा हुआ है :

“फिर उस झूठ को तो देखो जो हमारे जिम्मा लगाते हैं, कि मानो हम ने बीस करोड़ मुसलमानों और कलमा पढ़ने वालों को काफिर ठहराया।

“अगर कोई ऐसा कागज़ या इशतिहार या रिसाला हमारी ओर से इन लोगों के फ़तवा कुफ़ से पहले प्रकाशित हुआ है जिस में हम ने विरोधी मुसलमानों को काफिर ठहराया हो तो वह पेश करें, वरना खुद सोच लें कि यह कितनी बेईमानी है कि स्वयं (सर्वप्रथम हमें) काफिर ठहरा दें और फिर हम पर यह इल्ज़ाम लगा दें कि मानो हम ने तमाम मुसलमानों को काफिर ठहराया है.....और फिर जबकि हमें अपने फ़तवों द्वारा काफिर ठहरा चुके और आप ही इस बात के भी कायल होगए कि जो व्यक्ति किसी मुसलमान को काफिर कहे तो कुफ़ उलट कर उसी पर पड़ता है, तो उस सूरत में क्या हमारा हक़ न था कि इन्हीं के इकरार के मुताबिक़ हम उनको काफिर कहते।”

फिर 'बराहीने अहमदिया' भाग पांच में, जो सन् 1905 ई. और 1906 ई. की लिखी हुई है, यानि उसी ज़माने की किताब है जब 'हकीकतुल.वह्य' लिखी गई, ज़मीमा (परिशिष्ट) पृष्ठ 114 पर लिखा है :

“क्या मुझे काफिर और बेईमान कहने वाले हज़रत पैग़म्बरश्री^{सल्ल} की वह हदीस याद नहीं रखते, जिस में लिखा है कि आखिरी ज़माना के अधिकांश मोलवी यहूदियों के मोलवियों से सदृशता पैदा कर लेंगे।”

फिर वहां यह फुट नोट दिया है :

“आखिरी ज़माना के वो उलेमा जिन को हज़रत पैग़म्बरश्री^{सल्ल} ने इस उम्मत (मुस्लिम समुदाय) के यहूदी करार दिया है, वो विशेष रूप वो मौलवी हैं जो मसीहे मौऊद (आने वाले मसीह) के विरोधी और

जानी दुश्मन होंगे और हर दम उस की तबाही की चेष्टा में लगे होंगे, और उसे काफ़िर, बेईमान और दज्जाल कहते होंगे। अगर उनका बस चले तो उसे सलीब पर चढ़ा दें, क्योंकि यहूदियों के धर्माचार्य और धर्माधिकारी हज़रत ईसा मसीह^{अस} से इसी तरह पेश आते थे, और उनको कतल करना चाहते थे। लेकिन जो उलेमा इस किसम के नहीं हम उनको यहूदी नहीं कहते। बल्कि जो लोग हज़रत ईसा^{अस} के दुश्मनों की तरह मुझे दज्जाल, काफ़िर और बेईमान कहते हैं वही (इस उम्मत के) यहूदी हैं, यह नाम मैं उनको नहीं देता बल्कि अल्लाह तआला की वाणी में उनका यह नाम रखा गया है। और मेरे लिये यह एक मजबूरी का मामला है, क्योंकि मैं जानता हूँ कि मैं बल्किल सच्चा हूँ, काफ़िर नहीं हूँ, न दज्जाल और न बेईमान। अतः जो व्यक्ति सच्चे मसीहा को ऐस शब्दों से याद करता है उसको हज़रत नबी करीम^{सल्ल} यहूदी करार देते हैं। अगर मौलवी अबू सइयद मुहम्मद हुसैन साहिब मुझ बेईमान, काफ़िर, दज्जाल करार नहीं देते और मुझे वाजबुल-कतल (कतल किये जाने लायक) नहीं समझते तो हम उनको यहूदी नहीं कहते।”

यहां साफ़ शब्दों में विरोधी उलेमा को भी यहूदी या काफ़िर कहने से इनकार किया है, बशर्ते कि कि वो आपको काफ़िर और दज्जाल करार न दें, और तो और मौलवी मुहम्मद हुसैन साहिब के बारे में भी यही लिखा है, जिन की सारी उमर मुख़ालफ़त में बीत गई, कि अगर वह मुझे काफ़िर और दज्जाल नहीं कहता तो मैं भी उसे यहूदी नहीं कहता।

फिर आपकी आख़िरी तक्ऱीर जो मियां फ़ज़ल हुसैन साहिब बेरिसटर एट ला के साथ बात-चीत के रंग में हुई, उस में आप ने फ़रमाया :

“हम किसी कलिमा गो (कलिमा पढ़ने वाले) को इस्लाम से ख़ारिज नहीं कहते, जबतक कि वह हमें काफ़िर कह कर खुद काफ़िर न बन जाये.....अब जो

उन्हें काफ़िर कहा जाता है तो यह उन्हीं के काफ़िर बनाने का नतीजा है। एक व्यक्ति ने हम से मुबाहला की दरखास्त की, हम ने कहा दो मुसलमानों में मुबाहला जाइज़ नहीं, उसने जवाब में लिखा कि हम तो तुझे पक्का काफ़िर समझत हैं।”

इस पर सवाल हुआ कि ग़ैर—अहमदी आप को काफ़िर कहते हैं तो कहें, लेकिन आप न कहें तो इस में क्या हरज है?” जवाब में फ़रमाया : “जो हम को काफ़िर नहीं कहता हम उसको हरगिज़ हरगिज़ काफ़िर नहीं समझते।” यह तमाम तहरीरें और तक़रीरें किस कदर सफ़ाई से उसी उसूल को बार बार दोहराती हैं जो ‘तरयाकुल.कुलूब’ में कायम हो चुका है। ‘तरयाकुल.कुलूब’ की प्रत्यक्ष पुष्टि ही इस उसूल को अटल बना देती है। और अगर इस के खिलाफ़ कोई शब्द नज़र आयें तो उन की ऐसी व्याख्या की जाए गी जिस से वो इस सिद्धांत के अनुरूप हो जाएं। चलिये हुज्जत के लिये कुछ देर केलिये हम यों भी मान लेते हैं कि ‘तरयाकुल.कुलूब’ के इन सादा और खुले शब्दों की कोई ऐसी व्याख्या भी हो सकती है जो हमारी समझ से बाहिर हो (लेकिन फिर भी हज़रत मसीहे मौऊद के अपने कतई फ़ैसलें सामने ये शब्द किसी भी तरह मनसूख़ नहीं हो सकते), और ‘हकीकतुल.वह्य’ के शब्दों को अगर मौलिक रूप देदिया जाये तो इस से दो बातें अनिवार्य हो जाती हैं, (क) यह कि हज़रत साहिब के निकट जो व्यक्ति उन को नहीं मानता वह उन को मुफ़्तरी करार देता है, और (ख) यह कि हर व्यक्ति जो आपकी बैअत नहीं करता वह काफ़िर है। अब इन दोनों परिणामों पर हम थोड़ी देर केलिये विचार करते हैं।

सब से पहले हमें यह देखना होगा कि उस सूरत में वाक्यांश “जो व्यक्ति मुझे नहीं मानता” का तात्पर्य क्या होगा। ज़ाहिर है कि जो व्यापकता इन शब्दों को मियां साहिब देना चाहते हैं उस लिहाज़ से इस में वो सब लोग शामिल हैं जिन्हों ने आप की बैअत नहीं की, क्योंकि न मानने के यहां और कोई लक्षण मौजूद नहीं, और मियां

साहिब का मज़हब भी यही है। यही वजह है कि मियां साहिब उन लोगों को भी, जो दल से हज़रत मिर्जा साहिब को सच्चा मानते हैं और मुँह से भी आपकी सच्चाई का इक़रार करते हैं, काफ़िर करार देते हैं, जैसा कि इस पुस्तक के प्रारंभ में उनकी तहरीर का हवाला दिया जा चुका है। यह व्याख्या हज़रत मिर्जा साहिब की तहरीर की असल वस्तुस्थिति के एक दम प्रतिकूल होगी, क्योंकि जो लोग *बैअत* में दाखिल नहीं उन में बहुत बड़ा हिस्सा शायद 9/10 या इस से भी ज़्यादा उन लोगों का है जिनको आपकी खबर ही नहीं। तो क्या असल वास्तविकता यह हो सकती है कि जो व्यक्ति आप को नहीं मानता वह इसी लिये नहीं मानता कि वह आप को काफ़िर करार देता है? जब शब्दों को उनके आम यानि शाब्दिक अर्थों तक प्रयोज्य माना जाये तो उन पर कोई बंदिश नहीं लगाई जा सकती, क्योंकि उस सूरत में वही अर्थ मौलिक और प्रधान मान लिया जाता है। और अगर यहां यह बंदिश लगा दी जाये कि इस वाक्यांश में न मानने वालों से मुराद वो लोग हैं जिन पर हर तरह से हुज्जत पूरी हो चुकी है, तो इस तरह से वाक्य की व्याख्या आप से आप हो गई। क्योंकि शब्दों के अर्थ की अनिश्चित व्यापकता को हम ने किसी कारणवश सीमित कर दिया। जब ऐसे शब्दों के अर्थ की अनिश्चित व्यापकता को एक प्रकार से सीमित किया जा सकता है तो उन पर कोई दूसरी बंदिश भी लगाई जा सकती है, जिसका हेतु हज़रत साहिब की किसी दूसरी तहरीर से उत्पन्न होता हो। चलो कुछ देर केलिये सच न होते हुए भी *अहले क़िबला* को काफ़िर करार देने वालों की यह बात मान लेते हैं कि यह प्रतिबन्ध उन्हीं केलिय प्रयोज्य माना जाये जिनको हज़रत मिर्जा साहिब के दावे की इतलाह पहुंच चुकी है। तो क्या यह विकल्प भी तथ्यों की दृष्टि से मान्य हो सकता है। क्योंकि जो लोग हज़रत मसीहे मौऊद की *बैअत* में दाखिल नहीं हुए, जबकि उन्हां ने आपका नाम सुना हुआ है, वो इसी लिये शामिल नहीं कि वो आपको *मुफ़्तरी* समझते

हैं। क्या लगभग हर बैअत करने वाले पर एक ज़माना वह नहीं आया जब वह हज़रत साहिब की बैअत में भी न था औ आपको मुफ़्तरी भी नहीं समझता था। मैं खुद अल्लाह ताला की कसम खा कर यह गवाही दे सकता हूँ कि मैं, मेरे बड़े भाई मौलवी अज़ीज़ बख़्श बी.ए. और हमारे पिताश्री मरहूम ने सन् 1891 ई. में हज़रत साहिब के दावे को जाना, यानि उसी साल जब हज़रत साहिब ने दावा किया, लेकिन हम सब बैअत में सन् 1897 ई. में शामिल हुए। लेकिन इस अंतराल में कभी हमारे मन में यह विचार न आया कि हज़रत मिर्जा साहिब अपने दावा में झूठे हैं। मैं बहुत सारे ऐसे लोगों को जानता हूँ जिन पर बैअत से पहले हमारी ही तरह ऐसा ही ज़माना गुज़रा है, लेकिन वो उस वक्त भी हज़रत साहिब को हरगिज़ हरगिज़ झूठा न समझते थे। और मैं अब भी बहुत से ऐसे लोगों को जानता हूँ जिनके बारे में पूरे विश्वास से कह सकता हूँ कि हज़रत साहिब की बैअत में दाखिल न होने के बावजूद उनके मन में कभी यह विचार न आया कि हज़रत मिर्जा साहिब अपने दावे में झूठे हैं। मैं नहीं समझता कि कोई अहमदी ऐसा भी होगा जिसके दोस्तों में थोड़े बहुत ऐसे लोग मौजूद न हों जो हज़रत मिर्जा साहिब को झूठा न समझते हों और बैअत में भी शामिल न हों। लोगों की सैंकड़ों मजबूरियां होती हैं, कुछ अपनी किसी मजबूरी से और कुछ महज़ ग़फ़लत से बैअत में दाखिल नहीं हो सकते। क्या यह सच नहीं कि हज़ारों मुसलमान ऐसे हैं जो नमाज़ नहीं पढ़ते या बाक़ायदा नहीं पढ़ते, इस लिए नहीं कि नमाज़ के हुक्म का ग़लत समझते हैं, बल्कि अपनी कमज़ोरी से, ग़फ़लत से। क्या स्वयं अहमदियों में ऐसे लोग नहीं? बीसियों ईश्वरीय आज्ञाएं हैं जिन में ग़फ़लत और कमज़ोरी बाधा बन जाती है। हज़रत साहिब का मामला इसी के सदृश है। लोगों का अधिकांश ऐसा है जो ग़फ़लत की वजह से तवज्जा ही नहीं करते और उन लोगों की भी कसरत है जो हज़रत मिर्जा साहिब के बारे में अच्छी राय रखते हैं और मुजद्दिद तक जानते हैं,

लेकिन अपनी किसी कमजोरी से या किसी और छोटी सी रुकावट मन में आजाने के कारण *बैअत* में शामिल नहीं होते।

वाकात को छोड़ अब स्वयं हज़रत साहिब की तरहरीरों की ओर आओ, तो क्या वो इस मत को साफ़ धक्के नहीं देती? 1900 ई. की जनगणना के वक्त जो आम घोषणा हज़रत साहिब ने प्रकाशित की उस में ये शब्द भी हैं :

“जो व्यक्ति *बैअत* करने के लिये बिल्कुल तैयार है भले ही अभी *बैअत* नहीं की, उसको भी चाहिये कि इस हिदायत के मुताबिक अपना नाम लिखवाये और फिर मुझे किसी वक्त अपनी *बैअत* की सूचना देदे।”

अब विचार करो कि अगर हज़रत साहिब के निकट ये लोग काफ़िर हैं तो इनको अहमदियों में नाम लिखवाने की क्यों हिदायत देते हैं? ख़वाजह गुलाम फ़रीद मरहूम ने आख़िर तक *बैअत* नहीं की, तिस पर भी हज़रत साहिब की तहरीरें उसे नेक लोगों में शुमार करती हैं। अतः क्यों हज़रत मिर्जा साहिब के शब्दों से वह नतीजा निकालते हो जो आप की बाकी तहरीरों को ग़लत ठहराता हो। ये लोग इतना भी नहीं सोचते कि किसी व्यक्ति के शब्दों का वह अर्थ निकालना जो उसकी अन्य तहरीरों को ग़लत कर दे ऐसा सत्यपरायण लोगों का तरीका नहीं, बल्कि कुरआन शरीफ़ में यह उन लोगों का तरीका बताया गया है जिन के दिलों में ‘ज़ेग़’ यानि टेढ़ है। सो पहला नतीजा यानि जो व्यक्ति *बैअत* में दाख़िल नहीं वह इसी लिये दाख़िल नहीं कि हज़रत साहिब को अपने दावे में झूठा समझता है, वाकात की दृष्टि से भी ग़लत है, और हज़रत साहिब की अपनी तहरीरों की दृष्टि से भी ग़लत है।

अब हम दूसरे नतीजे को लेते हैं, यानि यह कि जो व्यक्ति आप की *बैअत* नहीं करता वह काफ़िर है, यह नतीजा प्रथमतः उन्ही कारणों से ग़लत है जिनका ज़िक्र अभी हो चुका है। फिर मैं कहता हूँ कि जब ‘*तरयाकुल कुलूब*’ वाली तहरीर मन्सूख नहीं तो ये दोनों बातें क्योंकिर सही हो सकती हैं, एक यह कि मेरे दावे के इन्कार से काफ़िर

नहीं हो सकता, दूसरे यह कि हर कोई मेरे दावे का इन्कार करने वाला काफ़िर है। कहा जाता है कि 'तरयाकुल कुलूब' की इबारत का मतलब सिर्फ़ इस कदर है कि मेरे दावे के इन्कार से बिला वास्ता कोई व्यक्ति काफ़िर नहीं हो सकता। काफ़िर सिर्फ़ इस लिये है कि वह अल्लाह के रसूल^{सल्ल} के हुक्म का नाफ़रमान है, यानि संबंध की वजह से काफ़िर है। लेकिन कोई भी अकलमंद एक लमहे केलिये इस व्याख्या को कबूल नहीं कर सकता, बिना वास्ता काफ़िर बना या वास्ते के साथ। लेकिन ऐसा व्यक्ति काफ़िर ज़रूर बना। जबकि हज़रत मसीहे मौऊद की 'तरयाकुल कुलूब' में सारी बहस इसी बात पर है कि मौलवी मुहम्मद हुसैन सिर्फ़ इस लिये इल्ज़ाम के नीचे है कि उस ने हाकिम के ख़ौफ़ से इस इकरार पर दस्तख़त कर दिये कि मैं मिर्जा साहिब को काफ़िर नहीं कहूँगा, हालांकि हज़रत साहिब के वही अक़ायद (मान्यताएं) थे जिन पर उस ने कुफ़्र का फ़तवा लगाया था, और अपने आप को बरी ठहराते हुए फ़रमाते हैं कि मेरे निकट तो मुहम्मद हुसैन मेरे दावे के इन्कार की वजह से काफ़िर न था बल्कि मुझे काफ़िर कहने की वजह से काफ़िर बना था। सो जब उसने इकरार कर लिया कि काफ़िर नहीं कहेगा तो मेरे निकट वह काफ़िर न रहा। अब अगर यह मान लिया जाये कि हज़रत साहिब की मनशा यह थी कि मौलवी मुहम्मद हुसैन बिला वास्ता काफ़िर नहीं बिल्-वास्ता काफ़िर है, तो हज़रत साहिब भी बिल्कुल उसी इल्ज़ाम के नीचे रहेंगे जो वो खुद मौलवी मुहम्मद हुसैन पर दे रहे हैं। यानि आप भी दिल से उसे काफ़िर समझते थे लेकिन हाकिम के भय से इन्कार कर दिया कि मैं उसे काफ़िर नहीं कहूँगा। और अपनी इस भविष्यवाणी का सच होना सिद्ध कर रहे हैं कि "मौलवी मुहम्मद हुसैन का अपमान हुआ", जबकि वही अपमान आप का भी हुआ। असल बात यह है कि नोटिस तो एक ही था जिस पर दोनों पक्षों ने दस्तख़त किये। मौलवी मुहम्मद हुसैन ने यह इकरार किया कि अब मैं भविष्य में

मिर्जा साहिब को काफ़िर, काज़िब और दज्जाल नहीं कहूँगा। और हज़रत मिर्जा साहिब ने भी यह इकरार किया कि भविष्य में मैं भी मौलवी मुहम्मद हुसैन को काफ़िर, काज़िब नहीं कहूँगा। मौलवी मुहम्मद हुसैन ने हज़रत मिर्जा साहिब पर उन की मान्यताओं और दावे के कारण बड़ी मेहनत से कुफ़्र का फ़तवा तैयार किया था। इस नोटिस पर दस्तख़त करने से उस ने मानो यह तस्लीम कर लिया कि वह फ़तवा झूठा था, या दिल से अब भी काफ़िर समझता था। लेकिन हाकिम के ख़ौफ़ से इकरार नामे पर दस्तख़त कर दिये। ये दोनों इल्ज़ाम उस पर ऐसे थे जो उसकी ज़िल्लत और अपमान का कारण बने। और हज़रत साहिब ने इसे अपनी भविष्यवाणी का पूरा होना करार दिया। अब अगर दिल में एक व्यक्ति विशेष को काफ़िर जानकर हाकिम के सामने यह इकरार करना कि मैं उसे काफ़िर नहीं कहूँगा ज़िल्लत का कारण है, जैसा कि हज़रत साहिब ने लिखा है, तो जो लोग हज़रत साहिब की तहरीर के यह माना करते हैं कि इस में सचमुच कुफ़्र का इन्कार नहीं सिर्फ़ बिला वास्ता कुफ़्र का इन्कार है, वो हज़रत मसीहे मौऊद को उसी ज़िल्लत का भागी करार देते हैं, जिस में मौलवी मुहम्मद हुसैन ग्रस्त हुआ। इस के अलावा हज़रत मिर्जा साहिब का मौलवी मुहम्मद हुसैन को ज़िल्लत का पात्र ठहराना (अल्लाह न करे) महज़ एक चालाकी थी। क्योंकि जिस काम को खुद किया उसी का इल्ज़ाम दूसरे को दे रहे हैं, और अपनी बर्रीयत जाहिर कर रहे हैं, बल्कि यह चालाकी और भी ज्यादा ज़लीलतर हरकत है, कि जुबान से तो यह कह दिया कि मेरे दावा के इन्कार की वजह से कोई व्यक्ति काफ़िर या दज्जान नहीं होता, लेकिन दिल में यह धारणा गुप्त रखी कि वह काफ़िर हो जाता है, लेकिन धोखा देने के लिये ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जिस से लोग यही समझें कि आप का मतलब यह है कि “वह काफ़िर नहीं होता।” सोच लो और फिर इस पर खूब चिन्तनमनन कर लो कि ‘तरयाकुलकुलूब’ को मन्सूख़ ठहराये बिना तुम

वह माना 'हकीकतुल.वह्य' की इबारत के भी नहीं ले सकते जो तुम लेते हो। और मन्सूखी के मामले में तुम्हारे हाथ खुद 'हकीकतुल.वह्य' की ही इबारत ने काट दिये हैं। क्योंकि यह इबारत कोई विसंगति तस्लीम नहीं करती, बल्कि 'तरयाकुल.कुलूब' वाले नियम को निर्णायक और मौलिक करार देकर उसे ग़ैर-मन्सूख ठहराती है।

अब दूसरा पहलू लो, यानि 'तरयाकुल.कुलूब' की इबारत को और इसी किसम की पहली और पिछली अनेकों तहरीरों को बुनियादी और मौलिक करार दो और 'हकीकतुल.वह्य' की अकेली इबारत की वो व्याख्या करो जो उसको असल और मौलिक भाव के अनुरूप कर दे, तो बात कितनी साफ़ है, और यह व्याख्या भी कोई ऐसी नहीं कि जिसको मानने में किसी को रत्ती भर संकोच हो। पहले की इबारत पर विचार करो, वहां सिर्फ़ काफ़िर कहने वाले का ज़िक्र नहीं बल्कि उन नकारने वालों का भी ज़िक्र है जो काफ़िर और दज्जाल कहते हैं। चुनांचि जिस नोटिस पर दस्तख़त कराये गए उस में ये शब्द हैं कि मैं भविष्य में मिर्जा साहिब को काफ़िर, झूठा या दज्जाल नहीं कहूँगा। अतः 'तरयाकुल.कुलूब' में नकारने वालों की दो किसमों का ज़िक्र है, एक वो जो आपको काफ़िर कहते हैं या काफ़िर नहीं तो दज्जाल और झूठा यानि मुफ़्तरी कहते हैं, इन दोनों को एक हुक्म के अधीन रखा है, और दूसरे वो नकारने वाले हैं जो आप को काफ़िर, झूठा और दज्जाल नहीं कहते, यानि न काफ़िर कहते हैं और न मुफ़्तरी। इस दूसरी किसम के इन्कार करने वालों के बारे में ही फ़रमाया कि मेरे दावे के इन्कार की वजह से कोई व्यक्ति काफ़िर नहीं हो सकता, मानो आपको काफ़िर ठहराने वाले और वो नकारने वाला जो आपको काज़िब यानि झूठा भी करार देते हैं एक ही श्रेणी में दाखिल हैं। ये दोनों एक ही आदेश के अधीन हैं, और दूसरी श्रेणी के नकारने वालों को अलग हुक्म के अधीन रखा है। सो एक श्रेणी नकारने वालों की वह है जो उसी मद में दाखिल हैं जिस में काफ़िर करार देने वाले, और

दूसरी किसम नकारने वालों की वह है जो इस मद में शामिल नहीं, क्योंकि वो काफ़िर करार देने वाले नहीं। वो इन्कार मात्र से काफ़िर नहीं हो जाते। और 'हकीकतुल. वह्य' में है कि न मानने वाले और काफ़िर न कहने वाले एक ही श्रेणी के लोग हैं। सो अगर यहां वो न मानने वाले मुराद लिये जाएं जिनको 'तरयाकुल. कुलूब' में पहली श्रेणी में रखा गया है तो मामला आप से आप हल हो जाता है, और दोनों इबारतें अपनी अपनी जगह सही रहती हैं। अगर इकरार सिर्फ़ इस कदर होता कि मैं भविष्य में आपको काफ़िर नहीं कहूँगा और काज़िब (झूठा) न कहने का इकरार न होता तो 'हकीकतुल. वह्य' और 'तरयाकुल. कुलूब' में बेशक मतभेद होता, लेकिन जब यह इकरार साफ़ मौजूद है कि काफ़िर भी नहीं कहूँगा और मुफ़्तरी भी नहीं कहूँगा, तो 'तरयाकुल. कुलूब' और 'हकीकतुल. वह्य' में कोई मतभेद न रहा। देखा जाये तो यह सिर्फ़ शब्दों पर सही विचार न करने का परिणाम है। 'तरयाकुल. कुलूब' में इन्कार करने वालों की दो श्रेणियां हैं, एक वो जो इन्कार भी करते हैं और काज़िब भी कहते हैं, दूसरे वो जो इन्कार तो करते हैं लेकिन काज़िब नहीं कहते, दज्जाल नहीं कहते। और 'हकीकतुल. वह्य' में इन इन्कार करने वालों में से पहली श्रेणी वालों का ज़िक्र है दूसरी श्रेणी का नहीं। यह बिल्कुल सच है कि काफ़िर कहने वाले और न मानने वाले (यानि मुफ़्तरी कहने वाले) एक ही श्रेणी हैं, और यह भी सच है कि दावे के इन्कार मात्र से, यानि उसको तस्लीम न करने से कोई व्यक्ति काफ़िर भी नहीं बनता। अब देख लो यह किस कदर साफ़ और पक्का सिद्धांत है कि जो बात पहले कही उसी को बाद में भी कहा। यही वजह है कि हज़रत साहिब ने अपनी किताबों में अन्तरविरोध तस्लीम नहीं किया। इस व्याख्या के सही होने पर यह पुख़ता दलील है कि 'हकीकतुल. वह्य' में भी हज़रत साहिब ने साफ़ फ़रमा दिया कि वहां किन न मानने वालों का ज़िक्र है। क्योंकि इस वाक्यांश के बाद कि "खुदा के नज़दीक एक ही किसम

हैं”, आप फ़रमाते हैं : “क्योंकि जो व्यक्ति मुझे नहीं मानता वह इसी वजह से नहीं मानता कि वह मुझे मुफ़्तरी करार देता है”। अब मुफ़्तरी या काज़िब कहना समानार्थक बात है, जो काज़िब कहता है उसका उद्देश्य भी यही है कि खुदा ने इसे नियुक्त करके नहीं भेजा है। और मुफ़्तरी करार देने का अर्थ भी बिल्कुल यही है। इस से साफ़ मालूम हुआ कि यहां हज़रत मसीहे मौऊद ने सब नकारने वालों का ज़िक्र नहीं किया, बल्कि सिर्फ़ उन्ही लोगों की चर्चा की है जो आपको मुफ़्तरी या काज़िब कहते हैं। और ‘तरयाकुल कुलूब’ में भी काज़िब कहने वालों और काफ़िर कहने वालों को एक ही श्रेणी में रखा है। सो दोनों तहरीरों में कोई अन्तर नहीं, बल्कि एक ही सिद्धांत का प्रतिपादन है।

एक और दलील इस पर यह है कि इसी इबारत में जो ऊपर नक़ल हो चुकी है, आगे लिखा है :

“पस जबकि मैंने एक नकारने वाले के निकट खुदा पर झूठ बांधा है, उस सूरत में न सिर्फ़ मैं काफ़िर हुआ बल्कि महा काफ़िर हुआ। और अगर मैं मुफ़्तरी नहीं तो ज़रूर वह कुफ़्र उस पर पड़ेगा।”

अब इस से दो बातें साफ़ हुईं :

(1) जिस व्यक्ति को ऊपर न माननेवाला कहा है, उसी को यहां मुकज़िब कहा है, और मुकज़िब वही है जो किसी के दावे की तकज़ीब करे यानि उसे काफ़िर कहे, काज़िब कहे। इस से यह भी मालूम हुआ कि यहां उन न माननेवालों का ज़िक्र है, जो आपको मुफ़्तरी कहते हैं, और जिन का ज़िक्र ‘तरयाकुल कुलूब’ में भी काफ़िर कहने वालों की श्रेणी में किया गया है।

(2) हज़रत मसीहे मौऊद ने अब भी अपने इन्कार या अपने दावे के इन्कार को कुफ़्र की वजह करार नहीं दिया, बल्कि कुफ़्र की वजह सिर्फ़ इस बात को बताया है कि उस ने मुफ़्तरी कह कर मुझे काफ़िर ठहराया, इस लिये हदीस के अनुसार काफ़िर करार देने की वजह से कुफ़्र वापस लोट कर उन्हीं पर पड़ा है। इस सूरत में भी कुफ़्र

लोटा, सो अब भी वही पहले वाली बात कायम है, जो 'तरयाकुल कुलूब' में कही थी। यानि फुटनोट पृष्ठ 130 में

“अपने दावे के इन्कार करने वाले को काफ़िर कहना सिर्फ़ उन नबियों की शान है जो खुदा ताअला की तरफ़ से शरीयत और नए आदेश लाते हैं।”

मानो अब भी अपने दावे के इन्कार को किसी के कुफ़्र की वजह नहीं बताते। बल्कि काफ़िर कहने वाला और काज़िब कहने वाला, ये दोनों बातें समानार्थक हैं, क्योंकि दोनों ही दावा करने वाले की तकफ़ीर करते हैं, यानि उसे खुले आम काफ़िर घोषित करते हैं। इस लिये दोनों हदीस के फ़रमानानुसार स्वयं कुफ़्र के नीचे आजाते हैं। चौथी दलील 'हकीकतुल वद्य' के पृष्ठ 163 का फुटनोट है, जहां इस बात को दोहराया है, कि मुफ़्तरी कहने वाले में कुफ़्र की वजह क्या होती है, क्या यह कुफ़्र दावे के इन्कार की वजह से है, जैसा कि नबियों के मामले में होता है, या इसका आधार वह हदीस है जिस में तकफ़ीर करने वालों यानि काफ़िर ठहराने वालों को काफ़िर करार दिया जाता है। चुनाचि फ़रमाते हैं :

“अल्लाह तआला फ़रमाता है कि खुदा पर इफ़तिरा करने वाला यानि उस पर झूठी बात मढ़ने वाला सब काफ़िरों से बढ़ कर काफ़िर है, जैसा कि (7:37) में फ़रमाया है, “فَمَنْ أَظْلَمُ مِمَّنِ افْتَرَىٰ عَلَى اللَّهِ كَذِبًا أَوْ كَذَّبَ بِآيَاتِهِ” यानि बड़े काफ़िर दो ही हैं, एक अल्लाह के ज़िम्मा झूठी बात मढ़ने वाला और दूसरा खुदा के वाक्य को झुठलाने वाला।” (पृ. 163), और नीचे नोट में यह शब्द मिलते हैं :

“ज़ालिम से मुराद इस जगह काफ़िर है.....(क्योंकि) मुफ़्तरी के मुक़ाबिल पर अल्लाह की किताब के मुक़ज़िब (झुठलाने वाले) को ज़ालिम ठहराया है, और बेशक वह व्यक्ति जो खुदा तआला के वाक्य को झुठलाता है काफ़िर है, सो व्यक्ति मुझे नहीं मानता वह मुझ मुफ़्तरी करार देकर मुझे

काफ़िर ठहराता है। इसलिये मेरी *तकफ़ीर* की वजह से आप काफ़िर बनता है।”

अब देख लो कि यहां किस क़दर सफ़ाई से काफ़िर बनने की वजह महज़ अपनी ही *तकफ़ीर* करार दी है, चाहे वह *तकफ़ीर* इसलिये हो कि एक व्यक्ति ने आपको काफ़िर कहा, चाहे इस लिये कि एक व्यक्ति ने आपको *मुफ़्तरी* कहा।

पांचवीं दलील यह है कि इसी जवाब के अन्त पर पुनः सफ़ाई के साथ इस बात का एतराफ़ किया है कि मैं *अहले क़िबला* को काफ़िर नहीं कहता, चुनांचि पृष्ठ 165 के फुटनोट में लिखा है :

“ मैं अब भी ‘अहले क़िबला’ को काफ़िर नहीं कहता, लेकिन जिन में खुद उन्हीं के हाथ से उनके कुफ़्र की वजह पैदा हो गई है, उनको क्योकर मोमिन कह सकता हूँ।”

अब इन शब्दों पर खूब विचार करो कि किसी अहले क़िबला को काफ़िर नहीं कहा जा सकता, जब तक कि उनके अन्दर कोई कुफ़्र की वजह पैदा नहीं हो जाती। अब जाओ और हज़रत मसीहे मौऊद की सारी किताबों को छान मारो, क्या हज़रत साहिब ने किसी भी जगह अपने दावे के इन्कार को किसी के कुफ़्र की वजह बताया है? सारी तहरीरों और तक्रीरों को तलाशो आप एक भी वाक्य ऐसा नहीं दिखा सकते, हरगिज़ नहीं दिखा सकते, जिस में कभी हज़रत साहिब ने कहा हो कि मेरे दावे का इन्कार भी कुफ़्र की एक वजह है। इस के विपरीत हज़रत मसीहे मौऊद की तहरीरों में साफ़ लिखा हुआ है कि मेरे दावे का इन्कार कुफ़्र की वजह नहीं। इसी सवाल के जवाब में देख लो कितनी बार *मुफ़्तरी* करार देने को कुफ़्र की वजह बताया है :

(1) “इसी वजह से नहीं मानता कि वह मझे *मुफ़्तरी* करार देता है।”

- (2) "जबकि मैं ने एक *मुकज़िब* के निकट अल्लाह पर *इफ़तिरा* किया है, इस सूरत में मैं न सिर्फ़ काफ़िर बल्कि बड़ा काफ़िर हुआ"
- (3) "वह मुझे *मुफ़्तरी* करार देकर मुझे काफ़िर ठहराता है, इस लिये मेरी *तकफ़ीर* की वजह से आप काफ़िर बनता है।"
- (4) "मुझ को बावजूद सैंकड़ों निशानों के *मुफ़्तरी* ठहराता है।"
- (5) "अगर वह मोमिन है तो मैं *इफ़तरा* करने की वजह से काफ़िर ठहरा।"
- (6) "क्योंकि मैं उनकी नज़र में *मुफ़्तरी* हूँ।"
- (7) "फिर वो लोग खुदा के निकट किस तरह मोमिन हो सकते हैं जो खुले खुले तौर पर खुदा की वाणी को झुठलाते हैं।"
- (8) "फिर भी मेरी *तकज़ीब* (झुठलाने) से बाज़ नहीं आते।"
- (9) "तो उस सूरत में वो मेरी *तकज़ीब* और *तकफ़ीर* के बाद काफ़िर हुए और मुझे काफ़िर ठहरा कर अपने कुफ़्र पर मोहर लगा दी।"
- (10) "मैं अब भी *अहल क़िबला* को काफ़िर नहीं कहता लेकिन जिन में खुद ही उन्हीं के हाथ से उनके कुफ़्र की वजह पैदा हो गई है, उनको क्योंकर मोमिन कह सकता हूँ।"

अब मैं एक और पहलू को लेता हूँ, जब पहली और आख़िरी तहरीरें और तकरीरें पूरी स्पष्टता से इस बात का समर्थन करती हैं कि हज़रत साहिब का सिद्धांत यही था कि जो हम को काफ़िर नहीं कहते हम भी उनको काफ़िर नहीं कहते, ऐसे में हमें क्या हक़ ही कि बीच वाले ज़माना की कोई तहरीर को लेकर उस के माना तमाम पहली और पिछली तहरीरों के प्रतिकूल बना लें। क्या इसका यह मतलब न होगा कि हज़रत साहिब खुद बे उसूल बातें कहते रहते थे, कभी कुछ कह दिया कभी कुछ। मैं दावे से कहता हूँ कि हज़रत साहिब ने जो सिद्धांत

'तरयाकुल.कुलूब' में कायम किया था उसे कभी नहीं छोड़ा। वह सिद्धांत क्या है? यही कि ऐसा व्यक्ति जो आपको काफ़िर या काज़िब या दज्जाल कहता है, वह तो ज़रूर हदीस के फ़तवे के अधीन खुद कुफ़्र के नीचे आता है। लेकिन ऐसा कहने वालों या समझने वालों के अलावा जो लोग ऐसे हैं कि उन्होंने ने दावे को क़बूल नहीं किया या अभी बैअत नहीं की वह महज़ दावा को न मानने की वजह से काफ़िर नहीं हो जाते, यही नियम पहली तहरीरों में है, यही 'हकीकतुल.वह्य' में है और यही उसके बाद की तहरीरों में है।

पुनः विचार करें कि आखिर मुसलमानों को काफ़िर कहना एक भारी जुर्म है। अगर संदेह के आधार पर किसी एक तहरीर के कोई माना ऐसे भी करसकते हैं जिस से *अहले क़िबला* की *तकफ़ीर* अनिवार्य हो जाती है तो एहतियात किस पहलू में है? इन लोगों को एक मुल्जिम भी मान लें तब भी शरीयत और कानून संदेह का लाभ मुल्जिम को देते हैं। मैं नहीं समझ सकता कि इतनी स्पष्टता के रहते किसी को क्या आपत्ति हो सकती है। वैसे भी स्पष्ट शब्दों के मुकाबले किसी संदिग्ध वाक्य के आधार पर *अहले क़िबला* की *तकफ़ीर* कोई छोटा अपराध नहीं। यह इस्लामी एकता को पूरी तरह खंडित कर देता है। यह मुसलमानों के अपूर्व संघटन को विघटित कर देता है, जिसका सीधा लाभ इस्लाम के दुश्मनों को मिलता है। विघटन का यह अप्रिय कार्य उस जमात को तो बिल्कुल ही शोभा नहीं देता जो इस्लाम की सेवा के लिये कायम की गई हो, जिस के एक एक सदस्य से इस्लाम की सेवा का वचन लिया गया हो। जिस के हर सदस्य की शरीयत उसकी बैअत की शर्तों में मौजूद है, जिन में एक विशेष शर्त यह है कि **"मैं मुसलमानों से खास तौर पर और अन्य सभी इन्सानों से आम तौर पर हमदरदी रखूँगा"**।

इस *अहले क़िबला* की *तकफ़ीर* वाली धारणा का सब से धिनौना पहलू यह है कि मियां साहिब ने हज़रत मसीहे मौऊद के नाम से बेखबर मुसलमानों को भी काफ़िर करार

दिया, हालांकि हजरत साहिब के साफ़ शब्द 'हकीकतुल-वह्य' में यों मौजूद हैं :

“मैं अब भी *अहले क़िबला* को काफ़िर नहीं कहता, लेकिन जिन में खुद उन्हीं के हाथ से उनके कुफ़्र की वजह पैदा हो गई है उनको किस तरह मोमिन कह सकता हूँ।” (पृष्ठ 165 फुटनोट)

अगर दिल में ज़रा भी अल्लाह का ख़ौफ़ हो तो कम से कम बेखबर मुसलमानों को काफ़िर कहने की कभी ज़ुरत न की जायेगी। क्योंकि हज़रत साहिब ने यह शर्त ठहराई है कि स्वयं उनके हाथ से कुफ़्र की कोई वजह पैदा हुई हो। अब सोचो कि बेखबर मुसलमानों में, यानि उन लोगों में जिन को मसीहे मौऊद के नाम की भी ख़बर नहीं, उनके हाथ से कौन सी कुफ़्र की वजह पैदा हुई और किस तरह? हज़रत साहिब तो दवा के इन्कार को भी कुफ़्र की वजह नहीं करार देते, बल्कि काफ़िर या *मुफ़्तरी* कहने को कुफ़्र की वजह करार देते हैं। अगर हम कल्पना के लिये यह तस्लीम भी कर लें कि दावा का इन्कार भी कुफ़्र की वजह है, तो उन लोगों ने जिन्होंने नाम भी नहीं सुना, दवा का इन्कार कब और किस तरह किया? अफसोस! क्यों कोई इतना भी नहीं सोचता कि जो मान्यता मियां साहिब प्रस्तुत करते हैं, हालांकि उसका एक हिस्सा तो पहले ही हज़रत मसीहे मौऊद की खुली तहरीर के एकदम विरुध है, और उसकी कोई दूसरी व्याख्या भी संभव नहीं, और न आज तक की गई है, तो बाकी तहरीरों को इसी के अनुरूप बना लो। एक और तहरीर यों मौजूद है :

“डॉक्टर अबदुल हकीम खां अपनी पुस्तिका '*अल-मसीह अल-दज्जाल* आदि' में मुझ पर यह आरोप लागाता है कि गोया मैं ने अपनी किताब में यह लिखा है कि जो व्यक्ति मुझ पर ईमान नहीं लायेगा, चाहे वह मेरे नाम से बेखबर हो या किसी ऐसे देश में हो जहां तक मेरी दावत (call) नहीं पहुंची, तब भी वह काफ़िर हो जायेगा, और दौज़ख़

में पड़े गा, यह कथित डॉक्टर का एकदम खुला आरोप है। मैं ने किसी किताब या किसी इशतिहार में ऐसा नहीं लखा। उस पर फ़र्ज है कि वह ऐसी कोई मेरी किताब पेश करे जिस में यह लिखा है। याद रहे कि इसने महज़ चालाकी से, जैसा कि उसकी आदत है, यह झूठ मुझ पर बांधा है। यह तो ऐसी बात कि जिस को इन्सानी अक़ल भी कबूल नहीं कर सकती, जो व्यक्ति नाम से भी बिल्कुल अपरिचित हो उस को डंड का पात्र कैसे ठहराया जासकता है? हां! मैं यह कहता हूँ कि चूंकि मैं मसीहे मौऊद हूँ और खुदा ने आम तोर पर आसमान से मेरे लिये निशान ज़ाहिर किये हैं, पस जिस व्यक्ति पर मेरे मसीहे मौऊद होने के बारे में परामात्मा के निकट आखिरी हुज्जत कायम हो चुकी, और वह मेरे दावे पर इतलाह पा चुका वह छंडणीय होगा। क्योंकि अल्लाह द्वारा नियुक्त किये गए महा पुरुषों से जान बूझ कर मुँह फेरना ऐसा कर्म नहीं कि जिस पर कोई पकड़ न हो। इस गुनाह केलिये पूछने वाला मैं नहीं बल्कि एक ही है जिस के समर्थन केलिये मुझे भेजा गया है, यानि हज़रत मुहम्मद^{सल्ल}। जो व्यक्ति मुझे नहीं मानता वह मेरा नहीं बल्कि उसका नाफ़रमान है जिस ने मेरे आने की भविष्यवाणी की।”

(‘हकीकतुल.वह्य’, पृष्ठ 178)

इन शब्दों को पढ़ो और बार बार पढ़ो, किस ज़ोर से हज़रत साहिब इस बात को अपने प्रति आरोप करार देते हैं कि उन्होंने ने कभी बेखबर मुसलमानों के बारे में कुछ कहा भी हो। इल्ज़ाम लगाने वाले डॉक्टर से वह किताब लाने का मुतालबा करते हैं जिस में बेखबर मुसलामनों पर काफ़िर या दंडणीय होने की बात लिखी हो, और फिर इस तरह की टिप्पणी को सरासर अक़ल के खिलाफ करार देते हैं। ‘हकीकतुल.वह्य’ में तो हज़रत साहिब ऐसा लिखने से इन्कार कर रहे हैं, तो इस से पहले और स्वयं इस किताब में तो यकीनन कोई ऐसा हवाला नहीं हो

सकता, और इसके बाद सिर्फ एक किताब 'चशमा माअरफत' है। जिस में इस विषय पर कोई बहस ही नहीं। अतः जो व्याख्या इन शब्दों की जाती है वह काफ़ी बोदी है। हज़रत साहिब ने अवश्य यह लिखा है कि "तब भी वह काफ़िर हो जायेगा और दौज़ख़ में पड़ेगा।" इस वाक्य का यह अर्थ लिया जाता है कि हज़रत साहिब के निकट वह काफ़िर हो जाता है लेकिन जहन्नम में नहीं पड़ता। इस व्याख्या से वाक्य के अर्थ का अनार्थ हो जाता है। हज़रत साहिब तो दोनों बातों का इनकार कर रहे हैं। यानि एक बेखबर मुसलमान को काफ़िर कहने से भी इनकार और जहन्नम में पड़ने का भी। जबकि मियां साहिब के शिष्य ये माना कर रहे हैं कि यहां काफ़िर होने का इकरार है और जहन्नम में पड़ने का इन्कार। एक बच्चा भी इसी व्याख्या पर हँसे गा, लेकिन आश्चर्य और खेद इस बात पर है कि एक बुद्धिशाली जमात की जमात इस व्याख्या को असल किताब खोले बिना और देखे बिना ही कबूल कर रही है। इन लोगों की इस हालत पर रोना आता है, कि किसी तरह ये लोग असल वास्तविकता से दूर पड़े हुए हैं, कि मोटी मोटी बातों पर भी स्वयं चिन्तन मनन करना नहीं चाहते। जो कुछ एक बड़े आदमी के मुँह से निकल गया उसी को अपना दीन व ईमान बना लिया, और इतना भी न सोचा कि जिस की ओर इस सिद्धांत को आरोप हो रहा है उसकी असल इबारत को तो देख लें। अगर हज़रत साहिब को यह बताना अभीष्ट होता कि उनके ना मानने से बेखबर मुसलमान काफ़िर तो तो हो जाता है लेकिन जहन्नम में पड़ने वाला नहीं, तो वो काफ़िर कहने और जहन्नम में पड़ने, यानि दोनों बातों को अपने प्रति झूठा आरोप क्यों कहते? दोनों बातों का अपनी किताबों में होने से क्यों इनकार करते, दोनों बातों का हवाला क्यों माँगते? कोई अक़लमन्द अल्लाह के लिये इतना तो सोचे कि अबदुल हकीम खां के मिथ्या आरोप का जवाब देते हुए हज़रत साहिब ने अपना अक़ीदा स्वयं जाहिर कर दिया है, लिखते हैं :

‘हां! मैं यह कहता हूँ कि जिस व्यक्ति पर मेरे मसीह मौऊद होने के बारे में खुदा के निकट हुज्जत पूरी हो चुकी और मेरे दावे पर वो इत्तला पा चुका है, वह सज़ा पाने योग्य होगा, क्योंकि अल्लाह कि भेजे हुए महा पुरुषों से जान बूझ कर मुँह फेर लेना ऐसी बात नहीं कि जिस पर कोई पकड़ न हो।’

अगर वह व्याख्या दुरुस्त है जो मियां साहिब के शिष्य करते हैं तो अबदुल हकीम के आरोप का जवाब यों होना चाहिये था :

‘हां! मैं यह कहता हूँ कि जो मेरे नाम से बेखबर हैं वो काफ़िर तो हैं लेकिन जहन्नम में नहीं पड़ेगे।’
 ऐ अकल वालो! अल्लाह के लिये इन मोटी मोटी बातों पर विचार करो, और बिना किसी कमज़ोर से कमज़ोर दलील के अभाव में, हज़रत साहिब के जिम्मे ऐसी ग़लत मान्यताओं का आरोप न करो जिनका परिणाम इस्लाम में वह खतरनाक विभाजन है जो मुसलमानों को टुकड़े टुकड़े कर उनकी रह सही शक्ति भी नष्ट कर देगा। खुदारा गौर करो कि अगर मियां साहिब की यह मान्यता सही है कि नबी आते रहेंगे और हज़ारों नबी आयेंगे, जैसा कि उन्होंने ने स्पष्ट शब्दों में ‘अनवार ए ख़िलाफ़त’ में लिख दिया है, तो ये हज़ारों गरोह एक दूसरे को काफ़िर करार देने वाला होंगे या नहीं। और इस्लाम की एकता और अखंडता कहां होगी? यह भी मान लो कि वो सारे नबी अहमदी जमात में से ही होंगे, तो फिर अहमदी जमात के कितने टुकड़े होंगे? आख़िर पिछली उम्मतों (धर्मसमूहों) से तुम इतने नावाकिफ़ नहीं हो कि किस तरह नबी के आजाने पर एक गरोह उसके साथ और एक गरोह ख़िलाफ़ होता है। वह खुदा जो हज़रत पैग़म्बरश्री मुहम्मद^{सल्ल} के हाथ पर दुनिया की तमाम कौमों को एक करने का इरादा ज़ाहिर कर चुका है क्या अब वो मुसलमानों को इस तरह टुकड़े टुकड़े कर देगा, कि एक गरोह दूसरे गरोह को काफ़िर कह रहा होगा, और आपस में इस्लाममी भाईचारा समाप्त हो जाये। याद रखो कि

अगर इस्लाम को कुल धर्मों पर प्रभुवत्त्व दिये जाने का वादा सचा है तो यह मुसीबत का दिन इस्लाम पर कभी नहीं आ सकता कि हज़ारों टोलियों में बटे फिरते हों। हज़ारों डेढ ईट की मस्जिदें हों, जिनके पुजारी अपनी अपनी जगह ईमान और नजात के ठेकेदार बने हुए हों, और दूसरे तमाम मुसलमानों को काफ़िर और बे ईमान करार दे रहे हों।

यद्यपि मुझे इस जगह इस बहस की ज़रूरत नहीं कि शरीयत का प्रत्यक्ष फतवा क्यों हज़रत पैग़म्बरश्री^{सल्ल} से बेख़बर लोगों पर कुफ़्र का है, लेकिन इतना बता देना ज़रूरी है कि शरीयते इस्लामी की परिभाषा में इस्लाम और कुफ़्र का सीमांकन हज़रत पैग़म्बरश्री^{सल्ल} पर ईमान है, यानि जब अल्लाह तआला ने तमाम इन्सानों को एक ही नबी के अधीन कर जातीय और राष्ट्रीय भिन्नताओं और धार्मिक मतभेदों को मिटाने का इरादा किया तो जो लोग इस झंडे के नीचे आगए वो मुस्लिम कहलाये और जो अभी इस झंडे के नीचे नहीं आये वो काफ़िर कहलाये। चाहे उन्हें हज़रत पैग़म्बरश्री मुहम्मद^{सल्ल} के नाम की इत्तला पहुंची हो या नहीं। यह वो तथ्य है जो कुरआन और हदीस से साबित है, और हज़रत मसीहे मौऊद ने भी उसी को कबूल किया है। यह बात *ख़ातमन नब्बीयीन* के आविर्भाव का अनिवार्य अंग है, अतः ऐसा ही हुआ। अब किसी अन्य व्यक्ति को यह पद देना, कि जो लोग उसके झंडे तले आजायें वो मुस्लिम और जो न आयें वो काफ़िर, यह बात अमलन हज़रत पैग़म्बरश्री^{सल्ल} को उसके वास्तविक मुकाम यानि *ख़ातमन नब्बीयीन* होने से वंचित कर देती है, भले ही शब्दों के माया जाल में फंसा कर सीधे सादे लोगों को यह यकीन दिलाया दिया जाए कि ऐसा नहीं। जब तक *ख़ातमन नब्बीयीन* को उसके मुकाम से वंचित कर दूसरे को उस मुकाम पर खड़ा न किया जाये उस वक्त तक इस्लाम और कुफ़्र का वो सीमांकन जो शरीयते इस्लामी ने मुकर्रर किया है बदल नहीं सकता। और जिस दिन वो सीमांकन बदला समझो उसी के साथ

दीन भी बदल गया, क्योंकि इस्लाम धर्म की जो बुनियाद है जब वही बाकी न रही तो फिर वह धर्म कहां बाकी रहा। खूब सोच लो कि इस्लाम और कुफ़ का सीमांकन शरीयते मुहम्मदिया में हज़रत पैगम्बरश्री^{सल्ल} पर ईमान है। जिस ने मान लिया वह मुस्लिम जिस ने अभी नहीं माना या जो इस झंडे के नीचे नहीं आया वह काफिर है। अब अगर तुम हज़रत मिर्जा गुलाम अहमद को इस मुकाम पर खड़ा करते हो और यह कहते हो कि जो व्यक्ति मिर्जा गुलाम अहमद पर ईमान लाया, या उनके झंडे के नीचे आया वह मुस्लिम जो अभी नहीं आया वह काफिर, तो तुम ने हज़रत पैगम्बरश्री मुहम्मद^{सल्ल} के झंडे को गिरा दिया, आप^{सल्ल} के दायरा नुबूवत को ख़तम कर दिया और उनकी जगह पर मिर्जा साहिब को खड़ा कर दिया, इस से बढ़ कर इस्लाम के साथ और कोई दुश्मनी नहीं हो सकती। पिछले नबियों का अगर उदाहरण दो तो भी परिणाम यही होगा क्योंकि वहां भी कानून यह था, कि जब भी नया नबी आता तो पिछले नबी का दायरा नुबूवत ख़तम हो जाता था। इसके अतिरिक्त वो कौमी नबी थे, और जिस तरह उनकी नुबूवतों का दायरा कौम तक सीमित होता था, उसी तरह उनका ज़माना भी सीमित होता था, यानि पहले नबी के दायरा नुबूवत के ख़तम होने पर दूसरे की नुबूवत शुरू होती थी। वो सारी नुबूवतें जातिविशेष और कालविशेष होती थीं। इसके विपरीत हज़रत पैगम्बरश्री^{सल्ल} की नुबूवत न किसी जाति या काल के तक सीमित थी, इस लिये इस को इस नियम के अधीन लाना और उसको भी कालविशेष करार देना मानो उस नुबूवत का दायरा भी इसराईली नबियों की तरह एक सीमित काल तक महदूद करार देना है। या यों कहिये कि हज़रत पैगम्बरश्री^{सल्ल} की नुबूवत के ज़माना सीमित कर देना है, जबकि कुरआन करीम में आता है :

قُلْ يَا أَيُّهَا النَّاسُ إِنِّي رَسُولُ اللَّهِ إِلَيْكُمْ جَمِيعًا

“कह दे : ऐ संसारवासियों! मैं तुम सब के लिए अल्लाह का रसूल हूँ”। (7:158)

وَمَا أَرْسَلْنَاكَ إِلَّا كَافَّةً لِّلنَّاسِ

“(ऐ मुहम्मद!) हम ने तुझे संपूर्ण मानवसमाज की ओर भेजा है” (34:28)

لِّلْعَالَمِينَ نَذِيرًا

“(ऐ मुहम्मद! तू सभी लोकों केलिये सचेतकर्ता है” (25:1)

इसी तरह की और सेंकड़ों आयतों भी मनसूख करना पड़ेंगी। मतलब यह कि इस्लाम और कुफ़्र का सीमांकन मिर्जा साहिब पर ईमान को करार देना साफ़ तोर पर मुहम्मद रसूलुल्लाह^{सल्ल} को उनके मुक़ाम से जवाब दे देना है, यही वजह है कि हज़रत मिर्जा साहिब के कभी वहमो गुमान में भी यह बात न आई थी, कि उनके नाम से बेख़बर मुसलमान भी काफ़िर हैं।

इसके बाद अब मैं इस सवाल के अमली पहलू पर गौर करता हूँ। कभी कभी शब्दों में संदिग्धता पैदा हो जाती है, लेकिन अमल इस शाब्दिक संदिग्धता को दूर कर देता है। यही देखें कि अमली रंग में अस्सलामु अलैकुम कहना, नमाज़े जनाज़ा अदा करना, आपस में शादी ब्याह करना इस बात का भारी सबूत हैं कि एक व्यक्ति को हम मुसलमान समझ लेते हैं या नहीं। ग़ैर-मुस्लिमों को हम अस्सलामु अलैकुम नहीं कहते, उनकी नमाज़े जनाज़ा नहीं पढ़ते, उनको अपनी लड़कियां ब्याह कर नहीं देते। सवाल यह है कि हज़रत साहिब का, और हज़रत साहिब की ज़िन्दगी में आपकी जमात का, ऐसे मामलात में क्या अमल था। ये ऐसे सवाल नहीं जिन का जवाब देने की मुझे ज़रूरत हो। हर एक अहमदी अपने आप से सवाल करे कि क्या वह हमेशा दूसरे मुसलमानों से *सलाम अलैकुम* करता रहा है या नहीं। मैं एक भी अहमदी को नहीं जानता जिस ने ऐसा न किया हो। यहां बाज़ जैशीले यह बेबुनियाद तर्क पेश कर देते हैं कि हम दूसरे मुसलमानों को सिर्फ़ रसमी तोर पर *अस्सलाम अलैकुम* कहते हैं। यह आज मियां साहिब के ज़माना की उपज है, सवाल यह है कि जब हज़रत साहिब ऐसा करत थे, या हज़रत साहिब

के ज़माना में अहमदी लोग ऐसा करते थे तो क्या उस वक्त उनका भी यह विचार था कि हम यह रसमी तोर पर कर रहे हैं, न कि उन लोगों को सचमुच मुसलमान समझ कर। जानते हो कि रसमी तोर पर ऐसा करने के क्या माना है। *अस्सलामु अलैकुम* एक दुआ है जब दो मुसलमान आपस में मिलते हैं तो एक दूसरे को सलामती की यह दुआ देते हैं। रसमी तोर पर *अस्सलामु अलैकुम* कहने के यह माना हुए कि जब हम किसी दूसरे मुसलमान से मिलें तो मुँह से उसे सलामती की दुआ दें लेकिन दिल में उसके विरुद्ध भावनाएं हों। धार्मिक परिभाषा में इस तरह की हरकत को 'मुनाफ़िक़त' (कपटाचार) कहते हैं, कि जुबान से कुछ कहा जाये और दिल में कुछ और रखा जाये। लेकिन मुसलमानों को काफ़िर बनाने का शौक भी किस हद तक गिर गया है कि उसकी खातिर एक कादियानी मुनाफ़िक़ बनने केलिये तैयार हो जाता है। क्या बात है! —अन्य सभी मुसलमान काफ़िर, और शेष बचे अहमदी मुसलमान मुनाफ़िक़—वाह! क्या ही सुन्दर इस्लाम और मुसलमानों का परिचय है। ऐ अक़लमन्दों! विचार करो कि जिस प्रतीक को इस्लाम के विशेष लक्षण के तोर हर वक्त ज़ाहिर किया जाता है, खुद अल्लाह तआला ने भी उसे इस्लाम का एक महत्त्वपूर्ण निशान करार दिया है :

وَلَا تَقُولُوا لِمَنْ أَلْفَىٰ إِلَيْكُمُ السَّلَامَ لَسْتَ مُؤْمِنًا

“जो (अपना व्यक्तित्व जताने केलिये) तुम्हें *अस्सलामु अलैकुम* कहे उसे यह न कहो कि तुम मोमिन नहीं।” (4:54)

उस व्यक्ति को तुम आज रसमी '*अस्-सलामु अलैकुम*' कह कर कुरआन शरीफ़ की खुली मुखालफ़त करते हो, और अपने आपको मुनाफ़िक़ भी बनाते हो।

इस बारे में सब से अजीब फ़तवा स्वयं जनाब मियां साहिब का है। 1915 ई. में मैं एबटाबाद में था, मियां साहिब के एक मुरीद से इसी ग़ैर-अहदी मुसलमानों को *अस्-सलामु*

अलैकुम कहने के बारे में किसी ने पूछा, तो उन्होंने ने कादियान मियां साहिब को खत लिखा, कि क्या गैर-अमदी मुसलमानों को *अस्-सलामु अलैकुम* कहना जाइज़ है या नहीं। इस का जवाब कादियान से निम्न लिखित खत के रूप में आया, यह खत मुनशी अल्लाह दत्ता कलरक मिलटरी सर्विसिस एबटाबाद की ओर से था, जवाब भी उन्हीं के नाम आया :

“मान्यवर!

अस्सलामु अलैकुम व रहमतुल्लाहि व बरकातहू

आप का खत आया, हज़रत साहिब ने फ़रमाया कि जो गैर-अहमदी हज़रत साहिब (हज़रत मसीहे मौऊद) का *मुकफ़िर* न हो, उसको सलाम कहना जाइज़ है। वस्सलाम!

कादियान। 2 सतम्बर 1915 ई.

इफ़ख़ार अहमद”

यह खत मेरे पास है, और इस से अजीब अजीब रहस्य खुलते हैं। एक ओर यह कहा जाता है कि दूसरे मुसलमान हमारे निकट काफ़िर और हम उन के निकट काफ़िर, बल्कि उनका फ़र्ज है कि वो हमें मुसलमान न समझें, और हमारा फ़र्ज है कि हम उन्हें मुसलमान न समझें। अब यहां स्वयं ही *मुकफ़िर* और *गैर-मुकफ़िर* के बीच अन्तर करते हैं। *मुकफ़िर* को सलाम कहना जाइज़ नहीं, *गैर-मुकफ़िर* को जाइज़ है, इस बयान से यही साबित हुआ कि *मुकफ़िर* को काफ़िर करार दिया है। यहां रस्मी सलाम की *तावील* भी काम नहीं देती। क्योंकि जब सलाम ही रस्मी है तो फिर *मुकफ़िर* और *गैर-मुकफ़िर* की अन्तर कैसा। और अगर यह कहो कि *मुकफ़िर* का कुफ़्र बड़ा है तो सवाल बड़े छोटे का नहीं। मियां साहिब के निकट दोनों ही दायरा इस्लाम से बाहिर हैं। एक को *अस्सलामु अलैकुम* कहना किस तरह जाइज़ है दूसरे को क्यों नहीं? इसके अतिरिक्त मियां साहिब के नियमानुसार यह बात दुरुस्त नहीं कि *मुकफ़िर* बड़ा काफ़िर है। क्योंकि जब हर मुसलमान का फ़र्ज है कि वह अहमदियों

को काफ़िर समझे तो जिस ने कुफ़्र का फ़तवा लगाया, उस ने "ग़ैर-अहमदी" होने की हैसियत में अपना फ़र्ज अदा किया, उसने क्या बुरा काम किया, बल्कि ग़ैर-मुकफ़्फ़िर बुरा है क्योंकि यह वह व्यक्ति जो मिर्जा साहिब की जमात में शामिल नहीं, इस लिये शामिल नहीं कि वह हज़रत मिर्जा साहिब का मुफ़्तरी और काफ़िर समझता है। ऐसे में ग़ैर-मुकफ़्फ़िर सिर्फ़ मुनाफ़िक़त का प्रदर्शन करता है। देखिये खुद मियां साहिब तमाम मुसलमानों को काफ़िर समझते और कहते हैं, इस के बावजूद वह इस कर्म को बुरा नहीं समझते, बल्कि जो मुसलमानों को काफ़िर न कहे उसको वो बुरा कहते हैं, क्योंकि उस में इस कदर जुरअत नहीं कि वो दूसरों को काफ़िर कहे। तो जब अहमदियों में मुकफ़्फ़िर से ग़ैर-मुकफ़्फ़िर बुरा है तो दूसरे मुसलमानों में भी मुकफ़्फ़िर से ग़ैर-मुकफ़्फ़िर बुरा हुआ। तो फिर इसका क्या अर्थ हुआ कि मुकफ़्फ़िर को अस्सलामु अलैकुम कहना जाइज़ नहीं और ग़ैर-मुकफ़्फ़िर को जाइज़ है।

मुसलमानों की एकता का दूसरा अमली निशान नमाज़ जनाज़ह में शिक़त है, जो एक फ़र्ज़-ए-कफ़ाय़ा⁸ है। इसके बारे में हज़रत मसीह मौऊद और मियां साहिब के मज़हब में एक ऐसा प्रत्यक्ष मतभेद है कि एक अनपढ़ से अनपढ़, मोटी से मोटी समझ का आदमी भी उसको देख सकता है। हज़रत मसीह मौऊद का खुला फतवा जो 18 अप्रैल 1902 का (यानि मियां साहिब के तथाकथित तबदीलिये अकीदा के बाद का) इस प्रकार है :

“सवाल हुआ कि जो आदमी इस सिलसिला (जमात) में दाखिल नहीं उसका जनाज़ह जाइज़ है या नहीं। हज़रत अक़दस मसीह मौऊद ने फ़रमाया : अगर इस सिलसिला का मुखालिफ़ था और हमें बुरा कहता था और बुरा समझता था तो उसका जनाज़ह न पढ़ो,

⁸वह फ़र्ज़ जिस में सभी लोगों का शामिल होना ज़रूरी नहीं, कुछ लोगों की शमूलियत काफ़ी है।

और अगर खामोश था और बीच वाली हालत में था तो उसका जनाज़ह पढ़ लेना जाइज़ है। बशर्तेकि नमाज़ जनाज़ह का इमाम तुम में से हो, वरना कोई ज़रूरत नहीं। मरने वाला अगर *मुकफ़्फ़िर* और *मुकज़िज़* न हो तो उसका जनाज़ह पढ़ लिया जाये तो कोई हरज नहीं, क्योंकि अनदेखी बातों और रहस्यों का जानने वाला तो बस खुदा तआला ही है। अपनी ज़िन्दगी के आखिरी दिनों में फिर उसी फ़तवा को दोहराया है। 12 मई 1907 को मुफ़ती मुहम्मद सादिक साहिब ने हज़रत साहिब के हुक्म से मियां गुलाम कादिर, नवासी जबूनजल, ज़िलह गुजरात को निम्न लिखित खत भेजा, मियां गुलाम कादिर ने हज़रत साहिब से कुछ सवाल लिख कर भेजे थे और साथ में यह निवेदन किया था कि हज़ूर अपने मुबारक कलम से इनका जवाब लिखें, इस बात की ओर साफ़ संकेत खत के अन्तिम वाक्य में है, जिस से यह भी मालूम हुआ कि यह सब जवाब हज़रत साहिब ने ही लिखवाये हैं :

मियां गुलाम कादिर साहिब

अस्सलामु अलैकुम!

- (1) हज़रत आपके वास्ते दुआ करते हैं,
- (2) अल्लाह के हुक्म के बिना नज़र नहीं लग सकती,
- (3) दम करना जाइज़ है,
- (4) जो मुख़ालिफ़ बुरा न बोलता हो उसका जनाज़ह जाइज़ है लेकिन इमाम बहर हाल अहमदी होना चाहिये, वो चाहें तो अलग पढ़ लें,
- (5) बे नमाज़ का जनाज़ह जाइज़ है, लेकिन बद बोलने वाला और कुफ़्र के शब्द बोलने वाला न हो,
- (6) मैयत के बाद बैठना *सुन्नत* का तरीका नहीं *बिदअत* है,

और हज़रत साहिब को इतनी फ़ुर्सत नहीं कि हर ख़त का जवाब खुद लिखें, दूसरे को फ़रमा देते हैं कि यह बात लिखो”

(दस्तख़त मुहम्मद सादिक)

इस के बाद भी 1908 ई. में जब भडयार अमृतरसर के अहमदियों और दूसरे मुसलमानों के बीच एक समझौता हुआ जिस में अहमदियों की ओर से स्पष्ट शब्दों में यह शर्त भी थी : **“हां! मामूली रंग में रहने वाले बे शर गैर—अहमदी रिश्तेदार का जिनाज़ा पढ़ लेंगे”**—तो इस पर हज़रत साहिब ने निम्न शब्द अपने कलम से लिखे :

“अस्सलामु अलैकुम व रहमतुल्ला—हि व बरकातुहू!

जो कुछ लिखा बहुत खूब और मुबारक है।”

(अखबार बदर, दिनांक 13 मई 1909)

यह तीनों गवाहियां 1901 ई. के बाद की हैं। और इनके अलावा इस से पहले का कम से कम एक खत तो जरूर ही मौजूद था, जो मियां साहिब को दिया भी गया, लेकिन उन्होंने ने उसका प्रकाशन रोकने में ही मस्तिहत समझी। इस खत में भी दूसरे मुसलमानों के जिनाज़ह पढ़न की साफ़ शब्दों में इजाज़त मौजूद है। इन निरंतर फतवों का ही यह परिणाम था कि अहमदी जमात हर जगह दूसरे मुसलमानों के जिनाज़े पढ़ती थी। एक भी बड़ी जमात ऐसी नहीं जहां ऐसे जनाज़े हज़रत मसीहे मौऊद और हज़रत मौलवी (नूर उद्दीन) साहिब मरहूम की ज़िन्दगी में न पढ़े गए हों। खुद कादियान में हज़रत मसीहे मौऊद का ऐसे जनाज़े पढ़ना साबित है, जैसा कि मीर आबिद अली शाह साहिब बदोमलही और मिर्जा खुदा बख़्श साहिब (*‘असले मुसफ़्फा’* के लेखक) की गवाहियों से कई बार सबूत दिया जा चुका है, कि हज़रत साहिब ने ऐसे मुसलमानों की नमाज़ जनाज़ह भी पढ़ी है जिनके बारे में हज़ूर को खुले शब्दों में यह बता दिया गया था कि ये अहमदी नहीं हैं। जबकि उक्त लिखित फतवों के होते ऐसी जानकारी देने की जरूरत भी न थी। फिर कादियान में उन लोगों के जिनाज़े पढ़े गए जो अहमदी न थे और बाहर से हज़रत मौलवी साहिब से इलाज के लिये आते थे। ये जनाज़े मौलवी साहिब के हुक्म से मौलवी गुलाम मुहम्मद अमृतसरी पढ़ाते थे। हज़रत मौलवी साहिब मरहूम ने अपनी वफ़ात से सिर्फ़ चार पांच महीने पहले अपनी

भतीजी का जनाज़ह पढ़ा जो अहमदी न थी और इस जनाज़े का सब से महत्त्वपूर्ण पहलू यह था कि खुद मियां साहिब ने भी मौलवी साहिब के पीछे यह जनाज़ा पढ़ा था। लाहौर, सियालकोट, शिमला आदि की जमातों से हलफ़ी गवाही लेलो कि आया वहां अहमदी दूसरे मुसलमानों के जनाज़े इख़तिलाफ़ (मतभेद) के वक्त तक पढ़ते रहे हैं या नहीं।

लेकिन हज़रत साहिब के इन खुल खुल फतवों और सारी जमाअत के अमल के ख़िलाफ़ मियों साहिब ने तमाम दूसरे मुसलमानों के जनाज़ों को नाजाइज़ करार दिया, और इस में यहां तक कठोरता दिखाई कि बच्चों तक के जनाज़े को भी नाजाइज़ घोषित किया। 'अनवार-ए-ख़िलाफ़त' के पृ. 93 पर लिखा है :

“अब एक सवाल और रह जाता है कि ग़ैर-अहमदी तो हज़रत मसीहे मौऊद के मुनक़िर हुए, इसलिये उनका जनाज़ा नहीं पढ़ना चाहिये, लेकिन अगर ग़ैर-अहमदी का छोटा बच्चा मर जाये तो उसका जनाज़ह क्यों न पढ़ा जाये वो तो मसीहे मौऊद का मुक़फ़िर नहीं।⁹ मैं यह सवाल करने वाले से पूछता हूँ कि अगर यह बात दुरुस्त है तो फिर हिन्दुओं और ईसाइयों के बच्चों का जिनाज़ह क्यों नहीं पढ़ा जाता

⁹ आश्चर्य है कि मियां साहिब बार बार मुक़फ़िर का ज़िक्र भी कर देते हैं, जबकि तकफ़ीर की तो उनके निकट कोई वुक़अत ही नहीं। प्रत्यक्षतः ऐसा प्रतीत होता है कि मियां साहिब के निकट केवल 'मुक़फ़िर' जनों का जिनाज़ा जाइज़ नहीं, लेकिन असल वास्तविकता ऐसी नहीं क्योंकि वो बच्चों और बेख़बर लोगों तक का जनाज़ा नाजाइज़ करार देते हैं। इसका जवाब शायद यह दिया जाये कि हर वो व्यक्ति जो हज़रत साहिब को नहीं मानता वो आपका 'मुक़फ़िर' है। तो ऐसी सूरत में "अस्सलामु अलैकुम" के बारे में जो अभी मियां साहिब ने शर्त रखी है, कि 'मुक़फ़िर' को "अस्सलामु अलैकुम" न कहो और जो 'मुक़फ़िर' न हो उसको कह लो। यह बात किस तरह दुरुस्त हुई, क्योंकि इस तावील (व्याख्या) के मुताबिक सब के सब 'मुक़फ़िर' हैं। पग पग पर मियां साहिब ठोकर खाते हैं। कारण, बेसोचे समझे एक मान्यता बना ली है।

10। कितने लोग हैं जो उनका जिनाज़ह पढ़ते हैं। असल बात यह है कि जो मज़हब मां-बाप का होता है शरीयतानुसार वही मज़हब उनके बच्चे का भी होता है। पस ग़ैर अहमदी का बच्चा भी ग़ैर अहमदी हुआ, इसलिये उसका जनाज़ह भी नहीं पढ़ना चाहिये। फिर मैं कहता हूँ कि बच्चा तो गुनहगार नहीं होता उसको जनाज़ह की ज़रूरत ही क्या है। बच्चे का जनाज़ह तो दुआ होती है उसके पीछे रहने वाले प्रियजनों के लिये, उसके वो प्रियजन हमारे नहीं बल्कि ग़ैर-अहमदी होते हैं। इसलिये बच्चे का जनाज़ह भी नहीं पढ़ना चाहिये। रही बात उस व्यक्ति की जो हज़रत मिर्ज़ा साहिब को सच्चा मानता है, लेकिन अभी उसने *बैअत* नहीं की है, या अहमदियत के बारे में सोच विचार कर रहा है और उसी हालत में मर गया है। इसको मुम्किन है कि खुदा तआला कोई सज़ा न दे। लेकिन शरीयत का फ़तवा जाहिरी हालाते के मुताबिक होता है, इसलिये हमें उसके विषय में भी यही करना चाहिये कि उसका जनाज़ह न पढ़ें।”

‘अल-फ़ज़ल’, दिनांक 6 मई 1915 में उन लोगों के बारे में जिन को हज़रत साहिब के नाम की इत्तला नहीं और जहां तबलीग़ कोई नहीं पहुंची, ऐसे लोगों के बारे में मियां साहिब का यह फ़तवा जारी किया गया है :

“अगर यह कहा जाये कि किसी ऐसी जगह जहां तबलीग़ नहीं पहुंची कोई मरा हुआ हो और उसे मर चुकने के बाद वहां कोई अहमदी पहुंचे तो वो जनाज़ा के बारे में क्या करें? इसके बारे में फ़तवा यह है कि हम तो ज़ाहिर पर ही नज़र रखते हैं, चूंकि वह ऐसी हालत में मरा है कि खुदा के नबी और रसूल की

¹⁰ मानो मुसलमानों पर भी वही नियम लागू है जो हिन्दुओं और ईसाइयों पर है।

पहचान उसे नसीब नहीं हुई।¹¹ इस लिये हम उसका जनाज़ह नहीं पढ़ेंगे। अगर वह व्यक्ति खुदा तआला के निकट क्षमा का पात्र है तो हमारे जनाज़ह पढ़े बिना ही खुदा उसे क्षमा कर देगा और अगर वह क्षमा का पात्र नहीं तो हमारे जनाज़ह पढ़ने से भी नहीं बख़शा जायेगा।¹²

इन हवालों से ज़ाहिर है कि मियां साहिब के निकट किसी ऐसे मुसलमान को जनाज़ह पढ़ना जाइज़ नहीं, जो सिलसिला अहमदिया में दाखिल नहीं हो चुका, चाहे वो नाबालिग़ हो, चाहे वह हज़रत मसीह मौऊद के नाम से भी बेख़बर हो, या चाहे उस देश में बस रहा हो जहां तबलीग़ न पहुंची हो। इस के विपरीत हज़रत साहिब का अमल और आदेश अन्त तक इसके प्रतिकूल हैं। एक ओर हज़ूर के अपने हाथ का लिखा हुआ खत, एक मुफ़ती मुहम्मद सादिक़ द्वारा लिखवाया हुआ खत और एक कागज़ पर आप के दस्तख़त इसी वास्तविकता की पुष्टि करते हैं—ये चारों एक तरफ़, अब मियां साहिब ने जो ग़लती की है कि सिवाय अहमदियों के बाकी तमाम मुसलमानों के जनाज़े को नाजाइज़ करार दिया है, यहांतक कि एक जगह उनको हिन्दुओं और ईसाइयों के साथ मिला दिया है—इन सारी बातों और ऐतिहासिक तथ्यों पर ख़ूब चिन्तनमनन करो। हज़रत साहिब के चार अलग अलग आदेश और सब के सब बिल्कुल साफ़ और स्पष्ट, इस के बरअकस मियां साहिब का इन्कार यही साबित करता है कि मियां साहिब हज़रत साहिब के

¹¹ मानो हज़रत पैग़म्बरश्री मुहम्मद^{सल्ल} की *नुबूवत* और *रिसालत* का अब कोई महत्त्व नहीं।

¹² यही दलील इन्हीं शब्दों में अहमदियों के लिये भी प्रयोज्य है। बल्कि यह कह कर तो मियां साहिब ने जनाज़ा के अनुष्ठान को ही बेमाना करार दिया है। सिर्फ़ जनाज़ा को ही नहीं बल्कि हर एक दुआ को भी। क्या अहमदी अगर अल्लाह तआला के निकट क्षमा का पात्र है तो खुदा तआला उसे हमारे जनाज़ा पढ़ने के बग़ैर नहीं बख़श देगा। और यदि वो क्षमा के योग्य नहीं तो क्या हमारा जनाज़ा उसे क्षमादान दिलवा देगा। या अहमदियों के लिये भी 'कफ़ारा' (atonement) वाला सिद्धांत प्रयोज्य होगा।

मज़हब से किस कदर दूर निकल गए हैं। खुद मियां साहिब इन बातों पर कोई रोशनी नहीं डालते। अगर 1915 वाली तकरीर पर हम विचार करते हैं, तब भी नतीजा कुछ नहीं निकलता। हां! मुरीद लोग अजीब अजीब *तावीलें* और व्याख्याएं करते रहते हैं, जैसे यह जो हज़रत साहिब ने फ़रमाया कि जो व्यक्ति ख़ामोश और बीच वाली हालत में है उसका जनाज़ह पढ़ लो, तो अब इसका इनकार यों किया जाता है कि ख़ामोश और बीच वाली हालत में कोई है ही नहीं, तमाम मुसलमान *मुकफ़्फ़िर* और *मुकज्जिब* हैं। मैं पूछता हूँ कि क्या इसका साफ़ मतलब यह नहीं कि हज़रत साहिब बेमाना फतवे दिया करते थे? एक व्यक्ति हज़रत साहिब से सवाल करता है कि क्या हम दूसरे मुसलामनों का जनाज़ह पढ़ा करें या नहीं। इसका जवाब देते हैं कि *मुकफ़्फ़िर* और *मुकज्जिब* का जनाज़ह न पढ़ो, जो ख़ामोश और बीच वाली हालत में हैं उनका जनाज़ह पढ़ लो। यहां मुसलमानों की दो श्रेणियां खुद हज़रत साहिब ने बताई हैं। अगर ख़ामोश और बीच की हालत वाले लोगों का कोई वास्तविक अस्तित्व है ही नहीं तो मानो आप ने खुद धोखा दिया कि मतलब तो यह था कि किसी भी ग़ैर-अहमदी मुसलमान का जनाज़ह न पढ़ो, लेकिन कह यह दिया कि ख़ामोश और बीच वाली हालत के लोगों का जनाज़ह पढ़ लो और *मुकफ़्फ़िर* और *मुकज्जिब* का न पढ़ो। क्या यही वो अपूर्व व्याख्याएं हैं जिन पर गर्व किया जा रहा है। अल्लाह उस जमात पर रहम करे जो अपने पेशवा के खुले और सुस्पष्ट शब्दों के साथ यों हँसी करके उसे दुख दे रहे हैं। मैं ने यह व्याख्या मियां साहिब के लगभग हर मुरीद के मुँह से सुनी है, जिस को मैं ने हज़रत मसीह मौऊद के खुले आदेशों की अवहैलना की ओर तवज्जा दिलाई है। तमाशा यह है कि हज़रत साहिब की तहरीरों से यह परिणाम निकालने की कोशिश करते हैं कि ख़ामोश और बीच वाली हालत में कोई है ही नहीं। अगर हज़रत साहिब के निकट वाकयी कोई ख़ामोश और

बीच वाली हालत में न था तो यह विभाजन उन्होंने ने खुद क्यों किया। सवाल करने वाले ने तो कोई विभाजन किये बिना ही सवाल हज़रत साहिब के सामने रखा था, उसका सवाल तो आम था। खामोश और बीच वाली हालत वालों की विशेषता तो खुद हज़रत साहिब बयान करते हैं। अब वस्तुस्थिति दो हालतों से खाली नहीं। या तो हज़रत साहिब उस वक्त भी जानते थे कि कोई व्यक्ति खामोश और बीच वाली हालत में है ही नहीं, यानि सब के सब *मुकफ़्फिर* और *मुकज्जिब* है, यानि यह खुला धोखा दिया (अल्लाह हमें इस तरह का आरोप लगाने से बचाए!), या यह कि उस वक्त तक (याद रहे कि यह 1901 ई. के बाद की घटना है), बकौल मियां साहिब उस वक्त तक हज़रत मिर्जा साहिब पर नुबूत का मसला खुल चुका था, लेकिन मामले की संदिग्धता पहले की तरह बरकरार रही, क्योंकि आप उन तमाम लोगों को काफिर नहीं कहते जो आपकी नुबूत का इन्कार कर रहे हैं। फिर इस पर दूसरी मुश्किल यह कि यह फतवा लगभग इन्ही शब्दों में, कि *एक गरोह के जिनाज़े पढ़ो*, आखिर उमर तक चलता है, बल्कि *मुकफ़्फिर* और *मुकज्जिब* जैसी शर्त भी नहीं, बल्कि बुरा बोलने वाले की शर्त है। यानि सिर्फ़ उन लोगों के जनाज़ों से रोका है जो आप को गालियां देते हैं, कहीं है कि अगर *“हमें बुरा कहता है और बुरा समझता था”* तो उसका जनाज़ा न पढ़ो। कहीं पर है *“जो मुखालिफ़ बुरा न बोलता हो उसका जनाज़ह जाइज़ है”*, कहीं है : *“मामूली रंग में रहने वाले बेशर ग़ैर—अहमदी रिश्तेदार का जनाज़ाह पढ़ लेंगे।”* अब देखिये कि यहां केवल एक ही शर्त है कि एक व्यक्ति खुले आम मुँह से बुरा न कहता हो। मालूम नहीं कि इन असंदिग्ध शब्दों की मियां साहिब के बुद्धिशाली मुरीद कौन सी ऐसी व्याख्या करेंगे जिस से यह साबित हो जाए कि तमाम मुसलमान मिर्जा साहिब को बुरा कहते हैं और गालियां देते हैं, चाहे वो दिल से उन्हें सच्चा ही जानते हों, और मुँह से सच्चाई का इकरार भी करते हों। मैं मियां साहिब से पूछता हूँ कि हज़रत

साहिब के इन शब्दों की क्या कोई इज्जत उन्होंने ने की? क्या वह मासूम बच्चा जिस का जिनाज़ह उन्होंने ने नाजाइज़ ठहराया वो भी हज़रत साहिब को बुरा कहता था? क्या वो बेखबद मुसलमान जिस के देश में अभी हज़रत साहिब की तबलीग़ नहीं पहुंची वो भी हज़रत साहिब को बुरा कहने वाला था? अगर नहीं तो क्या मसीह मौऊद को मुँह से मान कर और दूसरों को यह कहते हुए कि हज़रत साहिब *हक़म व अदल* (धार्मिक मामलों में सच्चे और प्रखर न्यायकर्ता) हैं, स्वयं यह नीति अपनाना कि जान बूझ कर हज़ूर के आदेशों और फैसलों से मुँह मोड़ लेना क्या हज़रत साहिब की खुला नाफ़रमानी और आज्ञोल्लंघन नहीं?

एक और व्याख्या यों की जाती है कि हज़रत साहिब ने यह सिर्फ़ इन लोगों के साथ बतौर एसान फ़रमाया है, हमारे लिये अनिवार्य या फ़र्ज़ नहीं ठहराया। मैं कहता हूँ कि क्या बतौर एहसान हिन्दुओं और ईसाइयों का जनाज़ह भी हज़रत साहिब ने जाइज़ करार दिया? मतलब यह कि जो चीज़ जाइज़ नहीं उसी को जाइज़ ठहराया जा रहा है! जनाज़ा एक फ़र्ज़-ए-कफ़ाया है, आम लौर पर उन्हीं लोगों का जनाज़ा पढ़ा जाता है जिन के हमारे साथ संबंध होते हों। हर एक मुसलमान की मैयत का चाहे वो हमारे इलम में भी हो, जनाज़ा पढ़ना फ़र्ज़ नहीं होता। जब कुछ मुसलमान एक मुसलमान की मैयत का जनाज़ह पढ़ लेते हैं तो अन्य सभी की ओर से भी फ़र्ज़ आदा हो जाता है। अब अगर गायबाना तौर पर जनाज़ह पढ़ लिया जाये या कुछ लागे फिर से जनाज़ह पढ़ लें तो यह एहसान होगा। क्योंकि फ़र्ज़ तो पहले जनाज़ा के साथ ही उतर चुका है। असल बात सिर्फ़ इसी क़दर है जो हज़रत साहिब ने फ़रमाई है, कि जिन लोगों के तअल्लुकात हमारे साथ वैसे नहीं क उनकी मैयत हमारे कबज़े में हो और उनका जनाज़ह दूसरे मुसलमान पढ़ चुके हों तो बतौर एहसान यानि उनके साथ अतिरिक्त उपकार केलिये उनके हक़ में भी हम दुआ करते हैं। हम उनका जनाज़ह भी पढ़

लेते हैं। फर्ज के बाद जो भी काम किया जाता है वो अपने इख्तियार से किया जाता है, इसी लिये एहसान कहलाता है, एहसान शब्द को उसके जाइज़ या नाजाइज़ होने की दलील नहीं बनाया जासकता। इस तरह की बातों से अज्ञानी लोगों की तवज्जह असल मुद्दे से हटा देने के अलावा और कुछ हासिल नहीं होता, मेरे निकट यह नीति धर्मपरायणता के अनुकूल नहीं, कि इस तरह लोगों के मनमस्तिष्क को भ्रमित कर उन्हें सही राय कायम करने के लायक न छोड़ा जाये।

स्वयं विचार करो कि एक वह ज़माना है जब हर शहर में हर जमात में गैर-अहमदी मुसलमानों के जनाज़े हम पढ़ते हैं, भले ही उनके साथ हमारे संबंध कुछ ऐसे ज़्यादा न हों लेकिन आज यह हालत है कि इस बात पर गर्व किया जाता है कि फुलां अहमदी नवजवान ने अपनी बीवी का जनाज़ह नहीं पढ़ा और फुलां ने अपने बाप का जनाज़ह नहीं पढ़ा, और किसी को बतौर नमूना पेश किया जाता है कि देखो इस महान अहमदी धर्मात्मा ने अपनी सगी मां का जनाज़ह नहीं पढ़ा। और जब दूसरे मुसलमानों ने भी वैमनस्य और तनाव की वजह से जनाज़ा न पढ़ा तो उसे बिना जनाज़ा पढ़े ही दफ़न कर दिया, और यह कारनामा फ़खर के तौर अख़बार की सुर्खी बनता है, कि (अल्लाह न करे!) यह वह नमूना है जो सहाबह कराम^{रज} के पदचिन्हों पर चलने का है। कहां यह गंद और कहां वह पवित्रता! शायद कल को इस बात पर भी गर्व होगा कि फुलां नवजवान ने अपनी माँ को दफ़न करने की बजाये अग्नि के हवाले कर दिया। जन लोगों का जनाज़ह पढ़ना ही जाइज़ नहीं उनको इस्लामी तरीक़े से दफ़न करने के क्या माना? यही कमी रह गई है जो उम्मीद है जौशीले नवजवान पत्रकारों के हाथों से थोड़े दोनों में पूरी हो जाये गी। ये खुदा के बन्दे कभी इस बात पर विचार नहीं करत कि हज़रत साहिब का ज़माना तो वह था जिब एक घर में मुश्किल से एक एक, दो दो अहमदी मिलते थे। बाप अहमदी है तो बेटा नहीं, बेटा है तो बाप नहीं,

पति है तो पत्नी नहीं, बेटा है तो माँ नहीं, भाई है तो बहन नहीं, अगर उस वक्त भी अहमदियों की यही नीति होती तो उस दौर के अहमदियों में भी कभी किसी अहमदी की तारीफ़ हुई होती, बल्कि बढ़ चढ़ कर होनी चाहिये थे, कि आज फुलां अहमदी ने अपने बाप को बिना जनाज़ह दफ़न कर दिया, और फुलां ने अपनी माँ को और फुलां ने अपने भाई को और फुलां ने अपनी बीवी को। कुछ तो अल्लाह की दी हुई अकल से काम लो और देखो कि यह गंदी मिसालें तुम में आज क्यों कायम हुई हैं, जबकि हज़रत साहिब के जीवन काल में दूसरों के जनाज़े पढ़े जाते थे, जबकि दूसरों की मुखालफ़त उस वक्त ज़्यादा थी। खुद मियां साहिब ने इस मसले में सफ़ाई का कोई न्यायसंगत तरीका नहीं अपनाया है, लिखते हैं :

“फिर एक सवाल ग़ैर-अहमदी के जनाज़ह के बारे में किया जाता है, इस में एक मुश्किल यह पेश की जाती है कि हज़रत मसीहे मौऊद ने बाज़ सूरतों में जनाज़ह पढ़ने की इजाज़त दी है, इसमें शक नहीं कि बाज़ हवाले ऐसे हैं जिन से यह बात मालूम होती है और एक खत भी मिला है जिस पर ग़ौर किया जायेगा।”

क्या इस फतवे के अन्दर वह खुला (धर्मविरुद्ध) रंग नज़र नहीं आता जिसके बारे में हदीस-साहित्य में हज़रत पैग़म्बरश्रीसल्ल की पहले से भविष्यवाणी मौजूद है? मियां साहिब ने भी फ़तवा जारी कर दिया जबकि उन्हें यह मालूम ही न था कि हज़रत साहिब ने जनाज़े के औचित्य के बारे में क्या फ़रमाया है। और जब उन को दिखाया गया कि उनके आदेश हज़रत साहिब के सिद्धांतों के खिलाफ़ है तब भी उन पर विचार न किया गया और हठपूर्वक अपने ग़लत फ़तवे को कायम रखा, और हज़रत साहिब के फ़रमान को यह कह कर टाल दिया कि इस पर बाद में ग़ौर किया जायेगा। क्या असल मौलिकता हज़रत साहिब के आदेशों को हासिल थी या मियां साहिब के निजी विचारों को? क्या ईश्वर द्वारा नियुक्त *हक़म व*

अदल (धर्म न्यायादीश) की इतनी ही कदर मियां साहिब के दिल में थी? किसी को अल्लाह द्वारा *हकम व अदल* नियुक्त किये जाने का मतलब यही था कि जो वह कहता है उस पर चिन्तन मनन करो। लेकिन जब परख का वक्त आया, और *हकम व अदल* का फ़रमान सामने आया, और उसे अपने विचारों के खिलाफ़ पाया तो यह कह कर टाल दिया कि इस पर कभी आगे चलकर ग़ौर किया जाये गा। यह वादा 1915 में किया था, इस पर भी आज गयारह साल (अब तो सौ साल से भी ज़्यादा अरसा बीत चुका है—अनुवादक) गुज़र चुके हैं, इन बातों पर क्या ग़ौर किया गया और क्या हल निकाला गया? क्या यह साबित कर दिया कि ये तहरीरें और आदेश हज़रत मसीह मौऊद के नहीं? या इनके खिलाफ़ इनको मन्सूख करार देने वाली कोई तहरीर पेश की?

कहा जाता है कि हज़रत मसीहे मौऊद का अमल इसके खिलाफ़ है (अनवार खिलाफ़त, पृ.91)।

एक तरफ़ हज़रत मसीह मौऊद की खुली तहरीरें और फतवे पेश किये जाते हैं, और उधर से बजाये इसके कि इनका कोई मतलब बताया जाये और स्पष्ट किया जाये कि इन से ग़ैर—अहमदी मुसलमानों के जनाज़े का औचित्य साबित नहीं होता। इसका जवाब यह मिलता है कि हज़रत साहिब का अमल इन फतवों के खिलाफ़ था। इस बात का मतलब सिवाय इसके कुछ और नहीं कि हज़रत साहिब कहते कुछ थे और करते कुछ थे :

كَبْرٌ مَّقْتًا عِنْدَ اللَّهِ أَنْ تَقُولُوا مَا لَا تَفْعَلُونَ ﴿٦١:٣﴾

“अल्लाह के निकट यह बात अत्यन्त अप्रिय है कि तुम वह कहो जो तुम करते नहीं।”

इस तरह की टिप्पणी का हक़ उसी सूरत में था जब पहले हज़रत साहिब के फतवों और तहरीरों की कोई ऐसी व्याख्या की जाती जिस से ग़ैर—अहमदी मुसलमान का जनाज़ह नाजाइज़ ठहर जाता, ऐसी परिस्थिति में अगर यह कह दिया जाता कि हज़रत साहिब का अमल भी

इसी निष्कर्ष के मुताबिक था तो भी कुछ बात थी। वरना खुली तहरीरों और स्पष्ट फतवों के होते हुए यह कह कर अपना पिंड छुड़ाना कि हज़रत साहिब का अमल इसके विरुद्ध था, वास्तव में हज़रत साहिब को एक खतरनाक आरोप के नीचे लाना है।

अब हज़रत साहिब के उस अमल को लीजिये जिस को आपके फतवों के खिलाफ़ पेश किया जाता है, वह आपकी सारी जिन्दगी की एकमात्र घटना है, वह भी सिर्फ़ इस कदर के हज़ूर ने अपने बेटे फ़ज़ल अहमद का जनाज़ह नहीं पढ़ा। और इस बात के गवाह सिर्फ़ मियां साहिब हैं जो संभवतः उस वक्त बालिग़ भी नहीं हुए थे। और वह गवाही यह नहीं कि हज़रत साहिब ने फ़रमाया हो कि इसके अहमदी न होने की वजह से मैं इसका जनाज़ा नहीं पढ़ता, बल्कि गवाही सिर्फ़ इस कदर है कि हज़रत साहिब ने उसकी फ़रमानबरदारी की तारीफ़ की थी और जनाज़ह नहीं पढ़ा था। इस से यह नतीजा निकाला गया है कि हज़रत साहिब के निकट उन लोगों का जनाज़ह पढ़ना जाइज़ न था जो सिलसिला अहमदिया में दाखिल न हो चुके हों, भले ही दिल से तसदीक करते हों। अब असल वाकया को लें। फ़ज़ल अहमद से हज़रत साहिब एक लंबे अरसे से नाराज़ चले आते थे। इस नाराज़गी के कारण जो भी हों उनकी हमें कुछ ज़रूरत नहीं, यहां तक कि आप ने उसे आक़ भी कर दिया था। हज़रत साहिब के जो रिश्तेदार उनकी जिन्दगी में उनके ज़बरदस्त दुश्मन थे, उन्हीं के साथ फ़ज़ल अहमद का तअल्लुक़ था, वह कादियान में फ़ौत नहीं हुआ बल्कि मिंटगुमरी में फ़ौत हुआ, और जब लाश दफन केलिये कादियान लाई गई तो उन्ही लोगों के कबज़े में थी जिन की दुश्मनी की नोबत यहां तक पहुंच चुकी थी, कि इस घटना से कुछ ही समय पहले उन्हीं ने हज़रत साहिब की मस्जिद के दरवाज़े के ठीक सामने एक दीवार खींच कर उस रस्ते को बन्द कर दिया जो मस्जिद को जाता था। क्या ये कारण और हेतु उसके जनाज़ह न पढ़ने वाली घटना को

स्पष्ट नहीं करते, जिस को इतने बयानों और तथ्यों के मुखालिफ़ बना कर खुद हज़रत साहिब के कौल को अमल के विरुद्ध दिखाया जाता है।

मियां साहिब ने *अनवार ख़िलाफ़त* में जहां फज़ल अहमद के जनाज़ह न पढ़े जाने की चर्चा की है, वहां उसके बार में हज़रत साहिब के तारीफ़ी शब्दों का भी ज़िक्र किया है। हो सकता है जो मियां साहिब ने लिखा वह दुरुस्त ही हो, हो सकता है कि मिर्जा फज़ल अहमद साहिब के संबंधों की हज़रत साहिब ने तारीफ़ की होगी। लेकिन इस में कोई संदेह नहीं कि मिर्जा फज़ल अहमद साहिब के तअल्लुकात उन लोगों से रहे जिन्होंने हज़रत साहिब की दुश्मनी पर पूरा ज़ोर लगाया। मियां साहिब के लिये उचित था कि वो उन सब वाकयात को सामने लाते, और जहां तारीफ़ की थी वहां हज़रत साहिब के उस इश्तिहार को भी नक़ल कर देते जो असल वजह जनाज़ा न पढ़ने की बनी थी। यह इश्तिहार जो 2 मई 1891 का है, इन शब्दों पर स्माप्त होता है, और इस में मिर्जा फज़ल अहमद का नाम भी मौजूद है :

“और किसी नेकी बदी, दुख और सुख, शादी और मातम में इन से मेलमिलाप नहीं रहेगा। क्योंकि इन्होंने आप संबंध तोड़ दिये और तोड़न पर राज़ी होगए। सो अब इन से कुछ तअल्लुक रखना कतअन हराम और ईमानी ग़ैरत के ख़िलाफ़ एक कायरता का काम है। मोमिल बेग़ैरत और कायर नहीं होता।”

(*मजमूआ इश्तिहारात*, जिल्द 2 पृ. 11,
संकलनकर्ता मीर कासिम अली साहिब)

काश! मियां साहिब ज़रा सा चिंतन करते तो उनको मालूम हो जाता कि हज़रत साहिब का मिर्जा फज़ल अहमद का जनाज़ह न पढ़ना कोई ऐसा काम नहीं जो आप के कथनों के ख़िलाफ़ है। बल्कि जो कुछ कहा वह कर दिखाया। जब एक बार दुनिया में यह एलान कर दिया कि दुख और सुख, शादी और मातम में उनके साथ मेलमिलाप न रहेगा, तो फिर बिल्कुल उसी के मुताबिक अमल भी किया।

क्या मियां साहिब चाहते थे कि हज़रत साहिब जब यह एलान प्रकाशित कर चुके थे कि अब इनसे कुछ भी संबंध रखना क़तअन हराम और ईमानी ग़ैरते के ख़िलाफ़ एक कायरता का काम है, तो फिर इस एलान के ख़िलाफ़ करके (अल्लाह न करे!) अपने मुँह से यह फतवा अपने ऊपर ले लेते।

असल बात यह है कि यह महज़ एक बहाना है कि हज़रत साहिब का अमल आप के कथन के एकदम ख़िलाफ़ था। हज़ूर का अमल एकदम वही था जो आप का कथन था। जिस तरह आप ने फतवे दिये और उन फतवों के आधार पर अहमदी जमात जगह जगह दूसरे मुसलमानों के जनाज़े पढ़ती रही, उसी तरह आप खुद भी कादियान में अहमदियों के उन रिश्तेदारों के जनाज़े पढ़ते रहे जो सिलसिला में दाखिल न थे। यहां आकर मियां साहिब यह शर्त लगाते हैं कि हज़रत को यह बता दिया गया हो कि हमारा फुलां प्रियजन अहमदी न था, तब भी आप ने जनाज़ा पढ़ा हो तो ही हम इसको क़बूल करेंगे। जब हज़रत साहिब का खुला फतवा छपा हुआ लोगों के हाथ में मौजूद है कि जो लोग हज़रत साहिब को काफ़िर, कज़्जाब नहीं कहते उनका जनाज़ा जाइज़ है, तो यह किस का सिर फिरा था कि हज़रत साहिब से कहता कि हज़रत यह व्यक्ति अहमदी न था। जो लोग काफ़िर, कज़्जाब कहने वाले थे उनके जनाज़ह की कोई पागल निर्बुद्धि ही दरख़वास्त कर सकता। मियां साहिब एक साफ और सीधी बात को बिला वजह पेचीदा बनाते हैं। अगर हज़रत साहिब का फ़तवा न होता कि जो लोग ख़ामोश और बीच वाली हालत में हैं, उनका जनाज़ह जाइज़ है तो फिर बेशक मियां साहिब की लगाई हुई शर्त उचित ठहरती। लेकिन मैं खुदा के फ़ज़ल से उनका यह मुतालबा पहले भी पूरा कर चुका हूँ। उसी गवाही को एक बार फिर संक्षेप में नीचे दर्ज कर रहा हूँ। कहना न होगा कि यह गवाही मीर आबिद अली साहिब बदोमलहवी के उस ज़माना की है **जब वो मियां साहिब के पक्के मुरीद थे :**

“मुझे तुच्छ प्राणी पर मेरे प्यारे मौला करीम ने विशेष कृपा की तो मैं ने बैअत कर ली...मेरी बैअत से मेरी माताश्री सख्त नाराज़ हो गईं और नाराज़ ही रहीं। उनकी आखिरी बीमारी में मैं लगभग दो अढ़ाई महीने उन की सेवा में उपस्थित रहा। मैं हज़रत साहिब की सेवा में प्रायः रोज़ाना पत्र भेजता, और कभी कभी एक दो दिन के अन्तराल के बाद। उन पत्रों में एक ही निवेदन होता कि खुदा के लिये यह दुआ करें कि अल्लाह तआला मेरी माताश्री को भी हज़ूर की पहचान का सौभाग्य प्रदान करे, ताकि वो भी हज़ूर की बैअत कर ले।...आखिर इसी हालत में मेरी माताश्री का देहांत हो गया...मैं ने इसकी इत्तला हज़ूर को दी और निवेदन किया कि हज़ूर मेरी माताश्री के पक्ष में दुआ फरमाएं और यदि उनकी अपार दयालुता पसंद करे तो मेरी माताश्री का जनाज़ह खुद पढ़ें। इसके जवाब में हज़रत साहिब की ओर से मौलवी अबदुल करीम साहिब मरहूम के कलम का लिखा हुआ खत मिला। जिस में हज़रत माताश्री के देहांत पर गहरा अफ़सोस ज़ाहिर किया गया था, और आखिर पर यह लिखा था : ‘हज़रत साहिब फ़रमाते हैं कि हम जुमा के दिन आपकी माताश्री का जनाज़ा पढ़ेंगे।’

यह एक गवाही थी, अब दूसरी गवाही मुलाहिज़ा फरमायें, यह गवाही जमात के जाने माने बुजुर्ग खुदा बख़्श हकीम की है, जो इस तरह है :

“मैं उस खुदा की क़सम खा कर कहता हूँ जो शाश्वत है और जिसके हाथ में मेरी जान है कि हज़रत मसीह मौऊद ने मेरी माताश्री का जनाज़ह पढ़ा था, जबकि मेरी माताश्री ने हज़ूर की बैअत न की थी। वह हमेशा उनको वली, बुजुर्ग मानती थीं, लेकिन मसीहे मौऊद के दावा को तस्लीम नहीं करती थीं। मैं कादियान में था जब मुझे माताश्री के बीमर पड़ने का खत मिला। मैं ने हज़रत मसीहे मौऊद और महदी मौऊद की सेवा में जाकर मामला रखा और

इजाज़त चाही। आप ने इजाज़त दी कि ज़रूर जा कर माताश्री की सेवा करा। चुनांचि मैं घर वालों को लेकर वतन चला गया। संभवतः वहां एक महीना या उस से कुछ कम या ज़्यादा अरसा में माताश्री का देहांत हो गया। मैं ने खत लिख कर हज़रत मसीह मौऊद को उनकी वफ़ात की खबर दी और जनाज़ह के लिये प्रार्थना की। वहां से हज़ूर का पत्र झंग मेरे नाम आया, जिस में माताश्री के देहांत पर शोक प्रकट किया गया था, और लिखा था कि जुमा के दिन जनाज़ा पढ़ा जायेगा। यह पत्र कहीं न कहीं मौजूद होगा, तलाशने पर मिल गया तो पेश कर दूंगा। माताश्री का देहांत 1901 ई. के अन्त पर या 1902 ई. के शुरू में हुआ था। और मेरे मामू मुहम्मद सुलैमान साहिब का जनाज़ह हज़रत साहिब ने मेरी दरखवास्त पर कादियान में मस्जिद मुबारक में पढ़ा था। मैं ने जनाज़ह से पहले यह भी साफ साफ़ कह दिया था कि मामू मरहूम हज़ूर को उच्च दरजे का वली, बल्कि ग़ौस और कुतब मानते थे लेकिन मसीहे मौऊद वाला दावा बार बार समझाने के उनकी समझ में नहीं आता था। इसी लिये उन्हों ने *बैअत* नहीं की थी। मगर हज़ूर ने यह सुन कर मौलवी अबदुल करीम साहिब को पीछे हटाया, और स्वयं इमाम बन कर मेरे मामू साहिब का जनाज़ह पढ़ा था। यह संभवतः 1904 ई. के प्रारंभ की घटना है, क्योंकि उनका देहांत मेरी माताश्री के डेढ साल बाद हुआ था। यह सच्ची घटनाएं हैं जो मैं ने बिना किसी कमी बेशी के लिख दी हैं।

इसके अतिरिक्त मैं अल्लाह का हाज़िर जानकर यह भी लिखता हूँ कि मेरे सामने न सिर्फ़ एक बार बल्कि अनेक बार हज़रत मसीह मौऊद ने लोगों के निवेदन पर ऐसे लोगों के जनाज़े पढ़ने की इजाज़त दी है जो मुखालफत नहीं करते या खामोश हैं या अच्छा कहते हैं। लेकिन *बैअत* से इन्कारी रहे हैं, यही वजह

है कि जमात का इस पर अमलदरामद रहा है। हां! यह ज़रूर फ़रमाते थे कि इमाम जनाज़ह अपनी ही जमात का आदमी हो। वरना अलग जनाज़ह पढ़ लिया करो। चुनांचि हज़रत मसीह मौऊद के हुक्म के मुताबिक आज तक मेरा यही अमल रहा है। **والله**

على ما قول شهيد

(खुदा बख़श हकीम, लंगे मंडी लाहौर)

मिर्जा खुदा बख़श को उनकी कृति 'असले मुसफ़ा' के कारण जो ख्याति हासिल है, और जमात के अन्दर जो उनका मुक़ाम और इज़्ज़त है वह बयान की मोताज नहीं। मीर आबिद अली शाह की धर्मपरायणता और पवित्रता की सारी जमात गवाह है। हज़रत मौलवी हकीम नूरुद्दीन मरहूम उनकी कितनी इज़्ज़त करते थे, खुद हज़रत मसीह मौऊद उनकी बहुत इज़्ज़त करते थे। ये दो वो व्यक्तित्व हैं कि जिन की गवाही पर संदेह नहीं किया जा सकता। ये दोनों हलफ़ी शहादत देते हैं कि उनके करीबियों के जनाज़े हज़रत मसीह मौऊद ने पढ़े, और यह जानते हुए पढ़े कि वो अहमदी न थे यानि बैअत करके जमात में शामिल न थे, बल्कि एक की तो कम से कम मुख़ालफ़त की भी कुछ जानकारी थी। यद्यपि वह भी बुर कहने वालों में से न थीं। इन तमाम गवाहियों की सत्यता पर साक्ष्य स्वयं जमात का अपना अमलदरामद है, कि किस तरह हर जगह अहमदी लोग अपने दूसरे रिश्तेदारों और मित्रों के जनाज़े पढ़ते रहे। और हर एक बड़े शहर की जमात स्वयं इस पर गवाह है। इस लिये मुझे इस अमली गवाही को अलग से पेश करने की ज़रूरत नहीं।

अब विचार करो कि जनाज़ह के मामले में मियां साहिब के हाथ में क्या है, और इसके ख़िलाफ़ क्या है? उनके हाथ में उनके अपने बयान के मुताबिक सिर्फ़ एक डायरी है जिसको मौलवी अबदुल करीम ने 1898 ई. में लिखा है और वो भी 1915 ई. से पहले कभी नहीं छपी। यह भी मियां साहिब के तथाकथित मन्सूखी (abrogation)

के ज़माना की है। इस में भी जनाज़ह पढ़ने या न पढ़ने की कोई बात नहीं, एक खास व्यक्ति के जनाज़ह का सवाल है। यहां भी सिर्फ़ इतना ही है कि मात्र लोगों को खुश करने केलिये एक काम का करना हज़रत साहिब ने पसंद नहीं किया।

दूसरी बात हज़रत साहिब का फ़ज़ल अहमद का जनाज़ह न पढ़ना है, जिस के बारे में हज़रत साहिब ने सारे रिश्ते-नाते तोड़ देने का पहले ही एलान कर रखा था। फिर फ़ज़ल अहमद कादियान में नहीं मरा उसकी मौत मिंटगुमरी में हुई थी, जहां नमाज़ जनाज़ह पढ़ी गई, उसकी लाश हज़रत साहिब के सख्ततरीन दुश्मनों के कबज़े में थी। इस के विपरीत मियां साहिब के खिलाफ़ क्या क्या तथ्य हैं :

हज़रत साहिब के हाथ का लिखा हुआ खत जिस पर सियालकोट की जमात 1901 ई. से पहले और 1901 ई. के बाद बराबर अमल करती रही।

दूसरा हज़रत मिर्जा साहिब का वह फतवा है जो फतवा संग्रह में छपा हुआ मौजूद है, जिस पर जमात में मतभेद पैदा होने के ज़माना तक अमल होता रहा।

तीसरा हज़रत साहिब के हुक्म से मुफ़ती मुहम्मद सादिक साहिब का वह खत है जो मियां गुलाम कादर के नाम है।

चौथी हज़रत साहिब की अपनी तहरीर और दस्तखत जमात भडयार के समझौते पर।

ये लिखित गवाहियां हैं, व्यावहारिक रूप में भी सारी जमात का अमल हर जगह यही रहा है कि उन्हीं ने दूसरे मुसलमानों के जनाज़े पढ़े हैं। हज़रत साहिब खुद भी ऐसे जनाज़े पढ़ते रहे हैं, ब्योरा ऊपर दरज हो चुका है।

तीसी गवाही निकाह संबंधी है। हज़रत साहिब की एक भी तहरीर या तक्रीर ऐसी नहीं जिस में आप ने फ़रमाया हो कि दूसरे मुसलमानों को लड़की देना नाजाइज़ है। अगर मियां साहिब के हाथ में कोई ऐसा हवाल है तो उसे पेश करें। आ जाके एक इश्तिहार है जिसके द्वारा हज़ूर

ने जमात को सिर्फ इस कदर समझाया था कि आपसी संबंधों को बढ़ाने के लिये और काफिर कहने वालों के बुरे असर से बचने केलिय मुनासिब है कि रिश्ते आपस में किये जायें। और लडकों और लडकियों के बारे में कोई फर्क नहीं किया। इश्तिहार के असल शब्द इस प्रकार हैं :

“चूंकि अल्लाह तआला की विशेष कृपा और अनुग्रह से हमारी जमात की संख्या में बहुत वृद्धि हुई है और संख्या अब तक कई लाख तक पहुंच गई है। इसलिये यही उचित समझा गया कि जमात के सदस्यों के बीच एकता बढ़ाने केलिये और उनको अन्य (दुष्ट) रिश्तेदारों के बुरे असर और बुरे परिणाम से बचाने केलिये लडकों और लडकियों के निकाह के बारे में कोई उचित व्यवस्था की जाए। कोई ज़रूरत नहीं कि ऐसे (दुष्ट) लोगों से हमारी जमात नवीन संबंध पैदा करे जो हमें काफिर कहते और हमारा नाम दज्जाल रखते हैं, या खुद तो नहीं मगर ऐसे लोगों को सराहाने वाले और उनके अधीन चलते हैं।”

(फ़तावा अहमदिया, जिल्द 2, पृ. 7)

इश्तिहार के शब्दों पर एक बार फिर निगाह डाललिये, आपको यहां ग़ैर अहमदियों में लडकी देने या न देने का कोई भी ज़िक्र न मिलेगा, बल्कि एक बात को उचित जान जमात के लोगों के सामने रख दिया गया है, और सिर्फ इतना ही लिखा है कि कुछ ज़रूरत नहीं कि दूसरे लोगों से रिश्ते करें। कहना न होगा कि यहां “लडकों और लडकियों” दोनों के निकाहों की एक जैसी व्यवस्था का ज़िक्र है। यही वजह है कि खुद हज़रत साहिब ने अपने एक प्रतिष्ठित मुरीद डॉ. ख़लीफ़ा रशीद उद्दीन साहिब की बेटी (मियां साहिब की साली) का निकाह लडकी की माता के रिश्तेदारों में मन्ज़ूर फ़रमाया, हालांकि वो अहमदी न थे, बल्कि कुछ कुछ मुखालिफ़ भी। इस निकाह की मंजूरी हज़ूर ने अपनी ज़िन्दगी के आखिरी दिनों में दी, और आपकी वफ़ात के बाद यह निकाह मौलवी हकीम नूरुद्दीन

साहिब मरहूम ने कादियान में मस्जिदे मुबारक में पढ़ा। और स्वयं मियां महमूद अहमद साहिब लाहौर में शादी यानि रुखसती में शामिल हुए। मियां साहिब का उस वक्त न सिर्फ खामोशी से रज़ामंदी का इज़हार करना, बिल्क खुद शादी में शामिल होना साफ़ बताता है कि मियां साहिब का मौजूदा मज़हब काफ़ी बाद की उपज है। मियां साहिब ने अपनी साली के निकाह के बारे में जो सफ़ाई दी है मैं उसको भी पेश कर देता हूँ। 'ज़िक्रे इलाही' में जो वास्तव में 1916 ई. के जल्सा सालाना की तकरीर है, उस में उन्होंने ने फ़रमाया :

“फिर एक बात ग़ैर-अहमदियों को लड़की देने के बारे में है, इसके बारे में जो रिवायत पेश की जाती है वह हज़रत मसीह मौऊद के ज़माना का वाकया नहीं और न ही आप से इसके बारे में मशवरा लिया गया। डॉ. ख़लीफ़ा रशीदुद्दीन साहिब ने हज़रत मसीह मौऊद से यह कहा था कि मेरे रिश्तेदार कहते हैं कि एक लड़की का तुम ने कादियान में निकाह कर दिया है दूसरी हमें देदो। अगर मैं ने न दी तो वो नाराज़ हो जाएंगे। आप ने फ़रमाया : हां! देदो। लेकिन इस से यह कहां साबित हुआ कि आपको यह भी जानकारी थी कि जिस लड़के से इस लड़की का निकाह होना है वह ग़ैर-अहमदी है। बाद में जब आप को इस बात का इलम हुआ तो डॉक्टर साहिब की पत्नी से आप ने फ़रमाया कि डाक्टर साहिब को कह दें कि यह रिश्ता उन्होंने ने क्यों किया है? फिर फरमाया : अच्छा! तुम अभी उन से न कहना, मैं “हकीकतुल वद्य” दूंगा, वह उस लड़के को पढ़ने केलिये दी जाये, अगर वह उसके बाद अहमदी हो जाये तो उस से निकाह किया जाये वरना नहीं। लेकिन बाद में आप को यह बात याद न रही।”

इन बयान में मियां साहिब की मुश्किलात स्वयं प्रकट हो कर सामने आ रही हैं। पहले फ़रमाते हैं कि यह हज़रत साहिब के ज़माना का वाकया नहीं, और न हज़ूर से

मशवरा लिया गया। फिर फ़रमाते हैं कि ख़लीफ़ा साहिब ने हज़रत साहिब से कहा था, वाकयात पेश किये थे, और हज़रत साहिब से इजाज़त ली थी। फिर हज़रत साहिब को ऐसा नावाकिफ़ करार देते हैं कि मानो आपको यह मालूम ही न था कि ख़लीफ़ा साहिब जहां लड़की देने के बारे में पूछ रहे हैं वो कौन लोग हैं। क्या ख़लीफ़ा साहिब के रिश्तेदारों से हज़रत साहिब इतने ही नावाकिफ़ थे? क्या ख़लीफ़ा साहिब हज़रत साहिब के दावे के आरंभ से ही उनके मुरीद न थे, और उनका सारा घराना मुखालिफ़ न था? क्या हज़रत साहिब इस सारी वस्तुस्थिति से अनजान थे? फिर जब स्वयं मियां साहिब की शादी हुई तो क्या इस शादी से ख़लीफ़ा साहिब के सब रिश्तेदार नाराज़ न थे, कि इन्होंने अपनी लड़की कादियान में क्यों दी? और क्या मियां साहिब को इस बात का इलम न था। क्या मियां साहिब हलफन यह कह सकते हैं या मुरीद लोग उनकी हलफ़ी गवाही दिलवा सकते हैं कि उन्होंने ने अपने रिश्तेदारों के बारे में हज़रत साहिब से ऐसे शब्दों में ज़िक्र किया था, जिस से हज़ूर को उनके अहमदी होने का विचार आया हो? बल्कि अब भी मियां साहिब ने जो शब्द ख़लीफ़ा के नक़ल किये हैं : “मेरे रिश्तेदार कहते हैं कि एक लड़की का निकाह तुम ने कादियान में कर दिया है तो दूसरी लड़की हमें दे दो”, यह बयान भी मियां साहिब के पक्ष में नहीं जाता। ख़लीफ़ा साहिब ने जिन शब्दों में इजाज़त माँगी वो खोल कर बता रहे हैं कि ये लोग कादियान के और कादियान में लड़की देने के खिलाफ़ थे। क्या कोई अहमदी यों कह सकता है कि तुम ने एक लड़की का निकाह कादियान में कर दिया है? क्या एक अहमदी मसीह मौऊद से ऐसा संबंध जोड़ कर खुश होता या नाराज़ हो कर यह कहता कि एक लड़की तो कादियान दे चुके हो दूसरी हमें देदो? अभी तो मियां साहिब कह रहे थे कि हज़रत साहिब को इस बात का इलम न था कि लड़का गैर-अहमदी है। और अन्त पर यह क्या कच्ची बात लिख दी कि जब गैर-अहमदी होने

का पता चला तो पहले फ़रमया कि खलीफ़ा साहिब को कह दो कि यह रश्ता उन्हों ने क्यों जोड़ा? फिर फ़रमाया : अच्छा! तुम अभी उन से कुछ न कहना, हम 'हकीकतुल-वह्य' देंगे, और फिर यह भी भूल गए। इस तमाम तहरीर में मियां साहिब ने यह दिखाना चाहा है कि हज़रत साहिब ने महज़ एक ग़लतफ़हमी के कारण या फिर भूल की वजह से एक अहमदी लड़की का निकाह एक "ग़ैर अहमदी" से मंज़ूर किया।

लेकिन जब दो साल बाद मियां साहिब से फिर यही सवाल पूछा गया तो 'हकीकतुल-अमर' के पृ.19 पर इस जवाब के साथ एक दूसरा जवाब यों दिया है :

"और आपको यह भी मालूम होना चाहिये कि लड़की ग़ैर-अहमदी और बालिग थी। और लड़की की हकीकी मां भी उस वक्त तक ग़ैर-अहमदी थी। सो इस सूरत में निकाह में कोई ख़िलाफ़े शरीयत बात भी नहीं। मतलब यह था कि दो काफ़िरों का निकाह था जो कि हज़रत मौलवी हकीम नूरुद्दीन साहिब मरहूम ने पढ़ा।"

लेकिन मियां साहिब की ये परस्परविरोधी तरहरीरें क्या बताती हैं? एक जगह तो यह साबित करने की कोशिश हो रही है कि लड़का ग़ैर-अहमदी था और लड़की अहमदी थी। पर चूंकि खलीफ़ा साहिब ने गोपनीयता से काम लिया और असल वाकयात हज़रत साहिब पर ज़ाहिर न होने दिये, इस लिये हज़रत साहिब ने लाइल्मी में इजाज़त देदी। और बाद में जब पता चला कि लड़का ग़ैर-अहमदी है तो शर्त लगा दी कि जब तक अहमदी न हो निकाह न किया जाये। और दूसरी जगह यह साबित कर रहे हैं कि लड़की ग़ैर-अहमदी थी। इस लिये हज़रत साहिब ने ठीक इजाज़त देदी। अगर मियां साहिब सही तथ्यों के आधार पर गवाही देते तो उनको यह कष्ट न उठाने पड़ते, हां! कुफ़्र की बुनियाद कमज़ोर पड़ जाती। अगर यह बात सही है कि लड़की ग़ैर-अहमदी थी तो

मियां साहिब का पहला बयान यकीनन ग़लत है, और अगर वह सही है तो लड़की ग़ैर-अहमदी न थी।

दूसरा सवाल यहां यह पैदा होता है कि लड़की ग़ैर-अहमदी किस तरह बनी? मियां साहिब का फतवा तो यह है कि बाप या मां दोनों में से कोई अहमदी हो तो सन्तान अहमदी होती है, और उनके लिये *बैअत* की ज़रूरत नहीं। तो क्या यह वास्तविकता नहीं कि ख़लीफ़ा रशीदुद्दीन साहिब अहमदी थे, और बाप के अहमदी होते लड़की "ग़ैर-अहमदी" किस तरह से बन गई?

बहर हाल हज़रत मसीह मौऊद का कोई हुक्म नहीं कि दूसरे मुसलमानों से रिश्ता हराम है। बल्कि इसका औचित्य तहरीर और अमल दोनों से साफ़ साबित है। तहरीर से इस तरह कि जब जमात में परस्तपर रिश्ते करने का एलान किया तो लड़कों और लड़कियों के रिश्तों में अन्तर नहीं किया और कारण जमात की एकता और सौहार्द की तरक्की बताया न कि शरयी तोर निकाह का नाजाईज़ होना।, जैसा कि मियां साहिब का विचार है। और अमल से इस तरह कि खुद मियां साहिब की साली का निकाह उन्हीं लोगों से मंज़ूर फ़रमाया और उसकी इजाज़त दी, और वह निकाह हज़रत मौलवी नूरुद्दीन साहिब ने कादियान की मस्जिद में पढ़ा। अमलन मियां साहिब भी सिर्फ़ ग़रीब मुरीदों ही पर नाराज़ झो जाते हैं, लेकिन अगर दौलतमन्द और इज्ज़तदार नामी गरामी लोग अपनी लड़कियां दूसरे मुसलमानों से ब्याह देते हैं तो उनको *बैअत* से निकाल देने की जुरअत नहीं करते। मिसाल के तोर जब मियां शमसुद्दीन ताजिर चरम लाहौर या जनाब खांन बहादुर शैख़ मुहम्मद हुसैन साहिब जज ने जब अपनी लड़कियों का निकाह सिलसिला अहमदिया से बाहर किया तो उन में से किसी साहिब पर जमात से बाहर निकाल दिये जाने का फतवा नहीं लगाया गया। जिस से मालूम हुआ कि या तो मियां साहिब का खुद भी इस बात पर पूर्ण विश्वास नहीं, या फिर उन के निकट रुपे और मानसम्मान से बाज़ गुनाह माफ़ हो जाते हैं।

व्यावहारिक मामले में आखिरी सवाल नमाज़ की इमामत से संबंधित है। इस विषय में कई पहलू विचारणीय हैं : पहली बात तो यह कि इस मसले को हज़रत मिर्ज़ा साहिब के दावे से कोई तअल्लुक नहीं। मसीहे मौऊद के दावे के बाद आप खुद भी दूसरे मुसलमानों के पीछे नमाज़ें पढ़ते रहे, और आप की जमात भी। हां! जब *तकफ़ीर* और *तकज़ीब* पर कठोरता दिखाई गई और जमात के लोगों को मस्जिदों में दुख दिये गए तो आप ने रोक दिया। आप की तहरीर में इसके बारे में सब से पहले शब्द '*अरबअीन*', भाग 3, पृ. 28 पर हैं। जहां आप ने अपने एक इलहाम *تَبَّتْ يَدَا أَبِي لَهَبٍ وَتَبَّ* की व्याख्या करते हुए, फुटनोट में लिखा है :

“इस ईश्वरीय वाक्य से ज़ाहिर है कि *तकफ़ीर* करने वाले और *तकज़ीब* का मार्ग अपनाने वाले (रूहानी एतबार से) मुर्दा कौम हैं। इस लिये वो इस लायक नहीं कि मेरी जमात में से कोई व्यक्ति उनके पीछे नमाज़ पढ़े। क्या जिन्दा मुर्दा के पीछे नमाज़ पढ़ सकता है? पस याद रखो कि जैसा खुदा ने मुझे सूचना दी है कि तुम पर हराम है और कतयी तोर हराम है कि किसी *मुकफ़ि़र* और *मुकज्ज़ि़ब* या *मुतरद्द* के पीछे नमाज़ पढ़ो।”

यह तहरीर उस ज़माना की है कि जिस के बारे में मियां महमूद अहमद साहिब को भी एतराफ़ है कि उस वक्त हज़रत मिर्ज़ा साहिब अपने आपको नबी न समझते थे, और सिवाय *मुकफ़ि़रीन* और *मुकज्ज़ि़बीन* के किसी को काफ़िर नहीं कहते थे। इसके काफ़ी अरसा बाद '*तरयाकुल-कुलूब*' अक्टूबर 1902 ई. में प्रकाशित हुई, जिस में आप ने साफ साफ लिखा है कि मेरा शुरु से यही मज़हब है कि मेरे दावे के इनकार की वजह से कोई व्यक्ति काफ़िर नहीं बन जाता। अतः यह तहरीर जैसा कि स्वयं इसके शब्दों से भी ज़ाहिर है सिर्फ़ उन लोगों के बारे में है जो *तकफ़ीर* या *तकज़ीब* करते हैं और '*मुतरद्द*'

से भी मुराद *तकफ़ीर* या *तकज़ीब* में *तरद्दुद* है न कि दावे के कबूल करने में, क्योंकि यहां दावा का कोई ज़िक्र नहीं। बल्कि *तकफ़ीर* और *तकज़ीब* का ज़िक्र है, और इसी के आधार पर रोका है। इसके बाद की आपकी जितनी भी तहरीरें या तकरीरें हैं वो सब इसी तथ्य की पुष्टि करती हैं। हज़ूर ने अपनी जिन्दगी के अन्त तक कभी यह नहीं कहा कि जब तक कोई व्यक्ति मेरी *बैअत* न करे उस वक्त तक उसके पीछे नमाज़ न पढ़ो। बल्कि यही कहा कि जो व्यक्ति कुछ शर्तों को पूरा कर दे उसके पीछे हम नमाज़ पढ़ लेंगे। और वो शर्त ये हैं :

वो स्वयं हमारी *तकफ़ीर व तकज़ीब* न करे,
दूसरे *तकफ़ीर* और *तकज़ीब* करने वाले लोगों में शामिल न हो

चुनांचि स्वयं आपके हाथ के लिखे हुए शब्द इस पर गवाह हैं, जो हज़ूर ने एक खत के जवाब में 17 मार्च 1908 ई. को बलपेचिस्तान के एक सज्जन का लिखे थे। यह खत बदर दिनांक 24, 31 दसम्बर 1908 ई. के पृ. 5 पर छपा हुआ मौजूद है। हज़रत साहिब ने अपने कलम से ये शब्द इस खत में लिखे हैं :

“जवाब में लिख दें कि चूंकि आम तोर पर इस देश के मुल्लां लोगों ने अपने पक्षपात की वजह से हमें काफ़िर ठहराया है और फतवे लिखे हैं। और अन्य जनता उनका अनूकरण करती है। सो अगर ऐसे लोग हों कि वो सफ़ाई साबित करने केलिये इश्तिहार देदें कि हम इन *मुकफ़िर* मौलवियों के अनुयायी नहीं हैं, तो फिर इनके साथ नामज़ पढ़ना वैध है, वरना जो व्यक्ति मुसलमान को काफ़िर कहे वो आप काफ़िर हो जाता है, फिर उसके पीछे नमाज़ क्योंकर पढ़ें, यह तो शरअ शरीफ़ की दृष्टि से जाइज़ नहीं।”

ये हज़रत साहिब के अपने कलम से लिखे हुए शब्द हैं और जिन्दगी के आखिरी दिनों के शब्द हैं। इस में शक नहीं कि बाज़ जगह हज़रत साहिब ने तकरीर में यों भी कहा है कि हम उनके पीछे नामज़ पढ़ेंगे जो यह एलान

करें कि वो हमें मुसलमान समझते हैं। लेकिन हज़रत साहिब को काफिर समझने वालों को हदीस के आदेशानुसार कि मुसलमाने को काफिर कहने वाले पर कुफ़्र उलट कर पड़ता है काफिर समझते हैं। लेकिन हज़रत साहिब की अपने हाथ की यह तहरीर फ़ैसला करती है कि इस का उद्देश्य भी सिर्फ़ इतना ही है कि वो *मुकफ़िर* मौलवियों से अलग हो जाएं। अतः जो ग़ैर-अहमदी हज़रत साहिब की इस तहरीर के अनुसार *मुकफ़िर* मौलवियों से विलगता इख़्तियार करता है उसके पीछे नमाज़ जाइज़ है। हज़रत साहिब के शब्दों से आगे कदम बढ़ाने का कोई भी व्यक्ति अधिकारी नहीं।

इस से मालूम हुआ कि नमाज़ के मामले में अलग होने का फतवा असल में सिर्फ़ *मुकफ़िरीन* और *मुकज्जिबीन* केलिये है। लेकिन चूँकि नमाज़ मोमिन का *मिअराज* है। इस लिये जो लोग अपने आप को इन *मुकफ़िर* मौलवियों से मिला हुआ रखते हैं, मुँह से न सही अमलन उनकी हां में हां मिलाते हैं, उनके पीछे नमाज़ पढ़ने से रोका है। और जो लोग हज़रत मसीहे मौऊद को काफिर या *मुफ़्तरी* नहीं कहते और *मुकफ़िर* मौलवियों से अलग रहते हैं, या उनके फतवे से बेज़ारी ज़ाहर करते हैं, उनके पीछे नमाज़ हो सकती है। यही वजह है कि हज़रत मौलवी नूरुद्दीन साहिब मरहूम ने विदेशों में जहां अहमदियों पर कुफ़्र का कोई फ़तवा नहीं दूसरे लोगों के पीछे नमाज़ पढ़ने की इजाज़त दी। यहाँतक कि स्वयं अरब देश में हज के अवसर पर इसी फतवे के मातहत हमारी जमात के हाजी लोग वहाँ के स्थानीय इमाम के पीछे नमाज़ें पढ़ते रहे। और तो और खुद मियां महमूद अहमद साहिब ने भी हज में नमाज़ दूसरे इमाम के पछे पढ़ ली। यही वजह है कि हज़रत मौलवी साहिब मरहूम ने मौलवी फ़ज़लुद्दीन निवासी खारियां को लिखित रूप में यह इजाज़त दी कि जो लोग इस सिलसिले के बारे में अच्छे विचार रखते हों और काफिर न कहते हों तो आप

‘इस्तख़ारा’ करने के बाद उनके पीछे नमाज़ पढ़ लें। इस खत का छाया चित्र नीचे अंकित है।

بِسْمِ اللّٰهِ الرَّحْمٰنِ الرَّحِیْمِ
 جو لوگوں سے ہے - اور جو لوگوں واقعہ سن
 رکھتے ہیں - وہ کبھی نہ ہو سکتے ہیں
 آپ بعد از بخارہ اپنے سیم نماز پڑھ لیں
 والسلام - لوزالسلام ۵۰ روز وری

आखिर में मैं फिर इस बात को दोहराना चाहूँगा कि इस्लामी एकता एक भव्य इमारत है के समान है जिसका निर्माण स्वयं हज़रत पैगम्बरश्री मुहम्मद^{सल्ल} ने किया है। आप^{सल्ल} ने जिस धर्म की बुनियाद रखी उसने अगर एक ओर ‘तौहीद’ (ईश्वर के एकत्व) को तमाम मिलावटों से स्वच्छ किया, तो दूसरी तरफ मानव समाज की एकता को उस चरम सीमा तक पहुंचा दिया जिस से आगे कोई दरजा नहीं। दुनिया में सर्वत्र कौम कौम में और राष्ट्र राष्ट्र में मतभेद और घृणा पाई जाती थी। आप^{सल्ल} ने इन सब भेदभावों और नफरतों का समूल उचाटन कर दिया और हज़रत पैगम्बरश्री^{सल्ल} के मानने वाले सब एकता के एक पावन सूत्र में बन्ध गए, और मुस्लिम समाज में धर्मपरायणता ही प्रतिष्ठा और गौरव का असल आधार बन गया। तौहीद का सन्देश इन्सानी एकता को चाहता है, इस एकता को तौहीद से अलग नहीं किया जासकता। यह एकता जिसको इतनी मेहनत और कोशिशों से क़याम किया गया, खेद है कि आज उसे तक़ीर के फतवों से पारा पारा किया जा रहा है। इस्लाम की शक्ति आज

केवल इसलिये टूटी हुई है कि वह एकता बाकी नहीं रही। एक *मुजद्दिद* के अनुयायियों को, जो मुस्लिम समाज में उत्पन्न बिगाड़ों को सुधारने आया था, चाहिये तो यह था कि इस्लाम में से इस सब से बड़े बिगाड़ को दूर करने की कोशिश करते, असल में मसीहे मौऊद के मिशन का मौलिक उद्देश्य भी यही था। इसी लिये आप ने उस हदीस की ओर तवज्जह दिलाई कि जब कोई व्यक्ति अपने मुसलमान भाई को काफ़िर कहता है तो कुफ़ उलट कर उसी पर पड़ता है। दूसरे शब्दों में यह कि मुसलमानों की आम जमात को समझाया कि वो मुसलमान को काफ़िर कहने वालों को (कुछ देर केलिये) यह सज़ा दें कि उसे अपनी बिरादरी के दायरे में शामिल न समझें और उस से बाइकाट करें, यद्यपि वह असल में इस्लाम के दायरा से बाहर नहीं होता। मकसद सिर्फ़ इतना ही है कि लोग एक दूसरे को काफ़िर कहना छोड़ दें। यही वजह थी कि जब आप पर कुफ़ का फतवा लगा कर मुसलमानों को आप से विमुख कर दिया गया और उनके दिलों में घृणा और नफरत बटा दी गई, तो आप ने दोबारा ऐसे लोगों के पीछे नमाज़ पढ़न के लिये यह शर्त लगा दी कि काफ़िर कहने वालों से अलाहिदगी और बेज़ारी ज़ाहिर की जाये। कभी कभी यह भी फरमाया कि फतवा कुफ़ पर मोहर लगाने वालों को हदीस के अदेशानुसार काफ़िर जानें। अर्थात् इसका उद्देश्य भी केवल इतना ही था कि ऐसे लोगों से संबंध तोड़ दिये जायें। क्योंकि निस्संदेह एक दूसरे को काफ़िर कहने की बीमारी मुस्लिम समाज की सब से खतरनाक बीमारी है। अतः आप ने इस बीमारी की खतरनाक तरक्की देख कर ही इसका एक कठोर इलाज करना चाहा, ताकि काफ़िर कहने वाले समझ जाएं कि दूसरे मुसलमानों पर कुफ़ का फतवा लगाना कोई मामूली बात नहीं। लेकिन अफसोस! नासमझ लोगों ने इस इलाज की हकीकत को न समझा और एक नई और पहले से खतरनाक बीमारी का शिकार हो गए।

कादियान वह स्थान था जहां से यह एलान ताज़ा हो कर निकला कि अगर एक व्यक्ति में ननानवे वजहें कुफ़्र की हों और सिर्फ एक वजह इस्लाम की हो तो उसे भी मुसलमान कहो, काफिर न कहो। किन्तु कितने खेद और दुख की बात है कि आज उसी कादियान से यह एलान निकलता है :

“हर एक व्यक्ति जो मूसा को तो मानता है मगर ईसा को नहीं मानता या ईसा को तो मानता है लेकिन मुहम्मद^{सल्ल} को नहीं मानता, या मुहम्मद^{सल्ल} को मानता है मगर मसीहे मौऊद को नहीं मानता, वह न सिर्फ काफिर, बल्कि पक्का काफिर और इस्लाम के दायरे से बाहिर है।”

(‘कलिमतुल-फ़सल’, रिव्यू आफ़ रेलिजंस, संख्या 14, पृ.110)
अल्लाह तआला ने हज़रत पैग़म्बरश्री^{सल्ल} को इसलिये भेजा था कि दुनिया के सब लोग एक आका के हाथ पर जमा हों और एक सूरज से रोशनी हासिल करने वाले हों। मगर आज मियां साहिब के मज़हब ने वही विघटन और विभाजन उत्पन्न कर दिया जो पहले धर्मसमुदायों में मौजूद था। सो में सभी बुद्धिमानों और निर्णय लेने वालों से अपील करता हूँ कि वह अल्लाह के हज़ूर जवाबदेही को मदेनज़र रखते हुए चिन्तनमनन करें कि क्या मियां साहिब के इस मज़हब ने इस्लाम की बुनियाद को ही तबाह नहीं कर दिया? मूसा के धर्म का मूलाधार हज़रत मूसा पर ईमान था, ईसाइयत की बुनियाद हज़रत ईसा पर ईमान था, और दीने मुहम्मदी यानि इस्लाम की बुनियाद हज़रत पैग़म्बरश्री मुहम्मद^{सल्ल} पर ईमान है। लेकिन हज़रत मिर्ज़ा साहिब को वही स्थान और मुकाम देना, जो अपने अपने वक़्तों में हज़रत मूसा, हज़रत ईसा और हज़रत पैग़म्बरश्री मुहम्मद^{सल्ल} को हासिल था, मानो उस धर्म को समाप्त कर देना है जिस का मूलाधार हज़रत पैग़म्बरश्री मुहम्मद^{सल्ल} पर ईमान है। सोचो और खूब गौर करो कि इस दावे के साथ ही इस्लाम धर्म बदल जायेगा और इसकी बुनियाद जाती रहेगी। इसका स्थान एक नई बुनियाद लेलेगी, मानो

इसतरह एक नया धर्म स्थापित हो जाये गा। सौ बार कहो कि हम कोई नया कलिमा नहीं पढ़ते, हमारा धर्म कोई नया धर्म नहीं, लेकिन असल वास्तविकता यही है कि अमलन एक नया कलिमा बन गया, जब यह एलान होगा कि अब मुहम्मद रसूल अल्लाह^{सल्ल} पर ईमान लाने से कोई व्यक्ति मुसलमान नहीं हो सकता, बल्कि अब अल्लाह तआला की तौहीद (एकत्व) के साथ मिर्जा साहिब की नुबूवत का इकरार भी ज़रूरी है। तो न वह पहला दीन रहा, न वह कलिमा रहा और न हज़रत पैग़म्बरश्री^{सल्ल} की नुबूवत बाकी रही। ख़ूब याद रखो कि वह खुदा जिस ने इस्लाम धर्म केलिये अन्य सभी धर्मों पर ग़ालिब आने का वादा दिया है वह इस्लाम पर ऐसे हमले कभी कामयाब नहीं होने देगा, जितनी जल्दी इस ग़लती से निकल जाओ तुम्हारा भला और कल्याण इसी में है। और जितना ज़्यादा तुम इस ग़लत मान्यता पर अड़े रहो गे उतना ही क़यामत के दिन हज़रत पैग़म्बरश्री^{सल्ल} के सामने शर्मिगी उठाना पड़े गी, और पिछले मसीहा को पहले मसीहा की तरह यह कहना पड़े गा, कि जब तक मैं उन में था उनकी मान्यताएं और धारणाएं सही थीं, जिब तू ने मुझे वफ़ात देदी तो तू ही उनका निगहबान था। हां! दीन और कलिमा बदले बिना जो चाहो मान्यता रखो, लेकिन इतना जुल्म न करो कि दीने इस्लाम की बुनियाद पर ही तबर चलाओ, और चालीस करोड़ मुसलमानों को काफ़िर बल्कि पक्का काफ़िर और दायरा इस्लाम से बाहर करार दो। वह मसीहे मौऊद जो अपने नाम से बेखबर लोगों को काफिर कहने से अपनी बरियत *हकीकतुल्वह्य* में ज़ाहिर कर चुका है, वह उन लोगों को भी जिनको तबलीग़ हो रही है और वह मुख़ालफत नहीं करते, उनको भी अपने ही खाते में डालता है। चुनांचि 5-6 फरवरी की तक़रीर जो *'अल-हकम'* 17 फरवरी 1904 ई. के अंक में इस प्रकार प्रकाशित हुई है :

“फ़रमाया कि इस वक्त तीन किसम के लोग हैं :

- (1) एक वो जो घृणा और ईर्ष्या के कारण विरोध पर तत्पर हैं, ऐसे लोगों की संख्या तो बहुत ही कम है,
 (2) वो लोग जो हमारी ओर आ रहे हैं, इनकी संख्या दिन पर दिन बढ़ रही है,
 (3) वो जो खामोश हैं न इधर हैं न उधर, इनकी संख्या काफी ज्यादा है, ये लोग मुल्लाओं के प्रभाव के नीचे नहीं हैं, और न इनके साथ मिल कर गाली गलोच या अपशब्द कहते हैं, सो ऐसे लोग भी हमारे ही खाते में हैं।”

अब स्वयं देख लो कि हज़रत साहिब की किसी तहरीर को आधार बना कर बेख़बर मुसलमानों को काफ़िर कहना हज़रत साहिब के प्रति कितना बड़ा झूठा आरोप है। और जिनको तबलीग़ पहुंच चुकी है उन में से आप स्वयं उनको जो गाली गलोच और अपशब्द से काम लेते हैं, संख्या में बहुत ही कम करार देते हैं। और उन लोगों को जो मुल्लाओं के प्रभाव में नहीं उनकी संख्या को बहुत ज्यादा करार देते हैं और उनको अपने ही खाते में रखते हैं। सो हज़रत साहिब के इन खुले खुले शब्दों का विरोध मत करो।

इस से भी ज्यादा स्पष्ट वह बातचीत है जो हज़रत मसीहे मौजूद और पादरी सकॉट के बीच 3 नवम्बर 1904 ई. को हुई, जब हज़रत साहिब सियालकोट से वापस तशरीफ़ ला रहे थे। इस ऐतिहासिक बातचीत से यह मसला पूरी तरह हल हो जाता है :

“**पादरी** : आप लोगों में तो बहुत से फ़िरके मौजूद हैं?”

“**हज़रत अक़दस** : मुझे आश्चर्य है कि आप इस्लाम पर यह एतराज़ करते हैं, क्या आपको मालूम नहीं कि ईसाइयों में कितने फ़िरके हैं जो एक दूसरे की तकफ़ीर करते हैं, और तो और वो मौलिक सिद्धांतों के मामले में भी एकमत नहीं। मुसलमानों के फ़िरकों में अगर कोई मतभेद है तो वह गौण और अमौलिक है, बुनियादी सिद्धांतों में सब एकमत हैं।”

मैं हैरान होता हूँ कि एक जमात जो इस कदर विवेकी और बुद्धिशील कहलाती है, आज इतनी सुस्पष्ट और खुली बातों को छोड़ कर किस तरह हज़रत मसीहे मौऊद की शिक्षा के प्रति अपनी आँखें बन्द कर रही है। हज़रत मसीहे मौऊद इस्लाम और ईसाइयत के फ़िरकों में यह अन्तर बताते हैं कि ईसाइयत के फ़िरकों में मतभेद मौलिक सिद्धांतों को लेकर है, इसलिये वो एक दूसरे की *तकफ़ीर* करते हैं। इसके विपरीत मुसलमानों के फ़िरकों में बुनियादी अन्तर गौण और अमौलिक है, इस लिये वो एक दूसरे को काफ़िर नहीं कह सकते। अब ऐसा व्यक्ति जो मुसलमानों के आपसी मतभेदों को असैद्धांतिक करार देकर मुसलमानों की एकता और अखंडता को सर्वोपरी समझता है, वह किस तरह अहले किबला मुसलमानों की *तकफ़ीर* का अपराधी बन सकता है। ऐ खुदा तू ही बन्द आँखों को खोल दे!

क्या *कलिमा गो अहले किबला* मुसलमानों को काफ़िर करार देना हज़रत मसीह मौऊद के फ़ैसले के मुताबिक ईसाइयों के नक़्शे कदम पर चलना नहीं, कि जिस तरह उनका मतभेद मौलिक सिद्धांतों को ले कर है उसी तरह मियां साहिब ने भी अपने मतभेद को मौलिक और सैद्धांतिक बना लिया है। और जिस तरह वह एक दूसरे की *तकफ़ीर* करते हैं मियां साहिब भी सारे अहले इस्लाम की *तकफ़ीर* कर रहे हैं।

मैं ने ये कुछ बातें लिख दी हैं, लेकिन इन पर चिन्तन ममम की तौफ़ीक़ देना अल्लाह के इख़्तियार में है। और मेरी उसी से सविनय दुआ है कि वो तमाम मुसलमानों को हर किसम की गलतियों विशेषकर एक दूसरे को काफ़िर कहने की ख़तरनाक गलती से बाहर निकाले कर उन्हें फिर से एकता के सूत्र में बांध दे, ताकि दुनिया के सामने इस्लामी अखंडता और एकता का वही नज़ारा फिर से अभिव्यक्त हो जाए जो हज़रत पैग़म्बरश्री मुहम्मद^{सल्ल} के पुण्यप्रताप से सर्वप्रथम अरब देश में देखा गया था। ऐ अल्लाह! हम को भी हज़रत पैग़म्बरश्री^{सल्ल} के पुण्यप्रताप

द्वारा आज आग के गढे में गिरने से बचा ले जिस तरह
तून अरब वालों को बचाया था।

(Ludhiana, 27-06-2020, night 11 PM)